महाकवि सूरदास और उनके काव्य की प्रासंगिकता

MAHAKAVI SURDAS AND THE RELEVANCE OF HIS POEMS

By

P. SHILPA

पी. शिल्पा

A Thesis submitted to the Avinashilingam
Institute for Home Science and Higher Education for Women
(Deemed University) Coimbatore - 641 043.
In partial fulfilment of the requirements for the Degree of

MASTER OF PHILOSOPHY IN HINDI

SEPTEMBER 2005

CERTIFICATE

This is to certify that the Thesis entitled **"MAHAKAVI SURDAS AND THE RELEVANCE OF HIS POEMS"** submitted to Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women (Deemed University), Coimbatore in partial fulfillment of the requirements for the award of **MASTER OF PHILOSOPHY IN HINDI** is a record of original research work done by **P. SHILPA**, during the period of her study in the Department of Hindi, Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women (Deemed University), Coimbatore, under my supervision and guidance and the thesis has not formed the basis for the award of any Degree/Diploma/Associateship/ Fellowship or other similar title to any candidate of any other university.

Forwarded

S. Nagalakshmi

Signature of the Guide

Date : 28.9.05

For HOD

28.09.05

Signature of the Head of the Department

28.9.05

Signature of the Dean of Humanities

DECLARATION

I hereby declare that the thesis entitled **"MAHAKAVI SURDAS AND THE RELEVANCE OF HIS POEMS"** submitted to Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women (Deemed University), Coimbatore in partial fulfillment of the award of the Degree of **MASTER OF PHILOSOPHY IN HINDI** is a record of original research work done by me under the supervision and guidance of **Dr. Smt. S. Nagalakshmi,** M.A. (Hindi), M.A. (Economics), M. Phil, Ph.D. (Madras), Former Dean of Humanities and Professor & Head of the Department of Hindi, Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women (Deemed University), Coimbatore, and that it has not formed the basis for the award of any Degree / Diploma / Associateship / Fellowship or other similar title to any candidates of any other University.

P. Shilpa

Signature of the Candidate

Forwarded

Date : 28.9.05

For HOD

28.09.05

Signature of the Head of the Department

आभार प्रदर्शन

आभार प्रदर्शन

अविनाशिलिंगम विश्वविद्यालय, कोयम्बत्तूर के माननीय कुलाधिपति महोदय डॉ. श्री.के. कुलन्दैवेल जी; एम.ए., एम.ए. (ओहियो स्टेट), पी.एच.डी. (मद्रास), एवं कुलपति महोदया डॉ. श्रीमती. सरोजा प्रभाकरन जी; एम.ए., डिप. एड. (मद्रास), पी.एच. डी. (मदर तेरेसा) के प्रति मैं सर्वप्रथम अपना आभार प्रदर्शित करती हूँ, जिन्होंने मुझे इस विश्वविद्यालय में एम.फिल. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेश दिलाया और शोध कार्य करने का सुअवसर भी प्रदान किया। हमारी कुलसचिव महोदया डॉ. श्रीमती. गौरी रामकृष्णन जी; एम.एस.सी. (मद्रास), एम.फिल., पी.एच.डी. (अविनाशिलिंगम विश्वविद्यालय) को भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ। मैं हमारी संकायाध्यक्षा डॉ. श्रीमती. डी. ललीता; एम.ए., डिप.एड., एम.फिल., पी.एच.डी. (भारतीयार) को भी अपना धन्यवाद देती हूँ।

मैं अपनी पूर्व संकायाध्यक्षा तथा प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्षा डॉ. सु. नागलक्ष्मी; एम.ए. (हिन्दी), एम.ए. (अर्थनीति), एम.फिल., पी.एच.डी. (मद्रास) को अपना हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। इन्हीं के श्रमसाध्य प्रयासों से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अनुमति पाकर ''प्रयोजनमूलक हिन्दी'' का पाठ्यक्रम हमें स्नातक स्तर पर और ''हिन्दी–पत्रकारिता''स्नातकोत्तर स्तर पर पढ़ने का सुअवसर मिला था। इनके मार्गदर्शन ने मुझे हर कदम पर प्रोत्साहित किया है।

मेरा शोध कार्य इन्हीं के सुयोग्य निर्देशन में हुआ है। मेरा शोध कार्य पूरा करने में आपने पूरी सहायता एवं अपना बहुमूल्य समय प्रदान किया। उनके प्रोत्साहन से ही मुझे इस शोध कार्य में पूरी सहायता मिली। उनके प्रति मैं बहुत आभारी हूँ। इन्हीं की प्रेरणा और मार्गदर्शन द्वारा मैं अपना शोध कार्य रुचिपूर्वक सफल बना पाई हूँ।

पुस्तकालयाध्यक्षा डॉ. उषाकुमारी जी; एम.एस.सी., एम.एल.ऐ.एस., पी.एच.डी. (मद्रास), बी.एड. (अन्नामलै) के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने लघु शोध प्रबंध कार्य के लेखन के लिए उपयुक्त संदर्भ सामग्री उपलब्ध कराने में मूझे पूरा सहयोग दिया।

इसके साथ मैं अपने विभाग की वर्तमान अध्यक्षा डॉ. शोभना कोक्काडन एवं डॉ. शशिप्रभा जैन तथा अन्य सभी सदस्यों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मुझे अपने इस शोध कार्य में हर संभव सहायता प्रदान की।

मैं श्री राघवन जी को भी अपना धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने मुझे अपना टंकण–कार्य पूरा करने में सहयोग दिया।

अंत में मैं अपने माता–पिता एवं मेरी प्रिय बहन को भी अपना हार्दिक धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने मुझे अपने इस शोध कार्य के लिए प्रेरणा एवं पूरा मानसिक सहयोग दिया।

अनुसन्धात्री

प्राक्कथन

प्राक्कथन

हम जब भक्तिकाल का अध्ययन करने चलते हैं, तब हमें लगता है कि हम किसी महान् अज्ञान चेतना के चरणों में अपना आत्म–समर्पण कर रहे हैं, उससे जो आनंदानुभूति होती है, वह किसी भौतिक सुख से अधिक आनंददायिनी होती है। पूरे भक्ति साहित्य में जिस तरह का माधुर्य है, रस है, आनंद है, वह आत्म–साक्षात्कार से कहीं भी कम नहीं है। यहाँ मंगल ही मंगल है।

मानव जीवन में बहार लानेवाला कवि, सौंदर्य–पारखी होता है और सौंदर्य वही है जो सत्य में स्थित होता है। चिरन्तन–सत्य और युग–सत्य दोनों ही में सौंदर्य का अनुभव करके कवि उन्मत्त हो जाता है और जब उसका उन्माद हृदय में नहीं समाता, तब वही संगीतमय वाणी के रूप में व्यक्त होकर काव्य की संज्ञा पाता है। कवि का सौंदर्य–दर्शन प्राकृतिक और हृदयग्राही होने के साथ जितना सूक्ष्म होता है, कवि को उतनी ही उत्कृष्टता प्रदान करता है। सूरदासजी इसके एक वरिष्ठ उदाहरण हैं।

महाकवि सूरदास सगुण भक्तिवादी धारा के मुख्य स्तंभ, कृष्ण काव्यधारा के शीर्षस्थ प्रतिनिधि तथा कृष्ण लीला–पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण के अनन्य भक्त हैं। वे अपनी कला में अपने देव को साहित्य, संगीत एवं भक्ति की त्रिवेणी में पावन स्नान कराते हुए जिन भाव–सुमनों द्वारा उनकी अनन्य अर्चना करते हैं, वे हिन्दी को अपनी मधुर महक से सदा के लिए सुरभित कर देते हैं। आश्चर्य यह देखकर होता है कि मानव–मन के यह पारदर्शक कवि कितनी लंबी परंपरा रखते हैं?

हिन्दी साहित्य में मेरी रुचि स्नातक स्तर से ही भक्ति–काव्य की ओर थी। क्योंकि भक्तिकाव्य का समय हिन्दी का पुनरुत्थान–काल हैं। हिन्दी के सभी बड़े–बड़े कवि इस काल में पैदा हुए। तुलसीदास, सूरदास आदि भक्तिकवियों ने हिन्दी साहित्य

की खूब श्रीवृद्धि की। इन लोगों ने हिन्दी साहित्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया और इन्हीं की कृपा का फल है जो हिन्दी साहित्य आज भी दिन अन्य साहित्यों के सामने अपना सिर सगर्व ऊँचा किये हुए हैं।

मेरे प्रिय कवि भक्त शिरोमणि सूरदासजी हैं। स्नातकोत्तर कक्षों में सूरदास के पदों की व्याख्या करते–करते हमारी अध्यापिका ने उस महात्मा कवि के महान व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों पर भी प्रकाश डाला था, जिससे प्रभावित मैंने शोध प्रबंध केलिए ऐसे विषय का चयन किया। वैष्णव कवियों ने पारिवारिक स्नेह के बीच ही लीलामय परमेश्वर की लीला का विकास देखा है। अतएव परिवार में हमारे जितने प्रकार के मुख्य नाते होते हैं उन्हीं में से किसी एक प्रकार का संबंध परमात्मा से जोड़ कर भक्ति की जा सकती है।

बिना सगुणोपासना के निर्गुण का ज्ञान दुरूह है। सगुणोपासना द्वारा सांसारिक मनुष्य भी क्रमशः ईश्वर की उपासना कर सकता है। सांसारिक व्यापारों में फँसा हुआ मनुष्य निर्गुण की उपासना कर नहीं सकता। यही कारण हैं कि कबीर और उनके अनुयायी अपने उद्‌देश्य में असफल रहे। हमारा प्रयोजन यहाँ निर्गुणोपासना का खंडन करने का नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि सगुणोपासना निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान कराने का साधन है।

इस शोध प्रबंध कार्य को मैंने पाँच अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय में मैंने भक्ति की परिभाषा एवं स्वरूप समझाकर, भक्तिकाल का सामान्य परिचय, और विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए सगुण भक्ति काव्यधारा की सामान्य प्रवृत्तियाँ, उद्‌भव, विकास, विशेषताएँ, उपशाखाएँ, कृष्णभक्ति साहित्य में सूर का स्थान आदि पर जोर डाला है।

द्वितीय अध्याय कृष्णभक्ति शाखा की परंपरा एवं प्रवृत्तियाँ, जीवन दर्शन, पुष्टिमार्ग और सूरदास, अष्टछाप के कवियों पर सूर का प्रभाव आदि से सम्बद्ध है और इनपर विस्तार से विचार हुआ है।

तृतीय अध्याय में सूरदासजी के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं उनकी काव्य–कला के मूल्यांकन पर सविस्तर विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में लोक–संस्कृति के संरक्षक एवं वरिष्ठ भक्त सूरदास और उनकी भक्ति–भावना की विशिष्टता पर विचार किया गया है।

पंचम अध्याय में मानववाद का स्वरूप समझाते हुए मानववादी सूरदास पर सविस्तार विश्लेषण किया गया है।

उपसंहार द्वारा मैंने अपना अभिमत देने का यथासंभव प्रयास किया है। अब यह शोध कार्य प्रबुद्ध विद्वान–पाठकों को समर्पित है। मुझे आपके अमूल्य सुझावों की अपेक्षा है।

यदि यह शोध प्रबंध दूसरे शोधार्थियों को आगे इसी विषय पर शोध कार्य करने के लिए प्रेरित कर सके तो वह मेरी सबसे बड़ी उपलब्धि रहेगी।

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

अध्याय १ : भक्तिकाल और सगुणभक्ति काव्यधारा

1.1. भक्ति : परिभाषा एवं स्वरूप

1.2. पूर्व मध्यकाल/भक्तिकाल का सामान्य परिचय

1.3. भक्तिकाल का वर्गीकरण

1.4. भक्तिकाल की सामान्य विशेषताएँ

1.2. सगुण भक्ति काव्यधारा की सामान्य प्रवृत्तियाँ

1.2.1. सगुण भक्ति का उद्‌भव और विकास

1.2.2. सगुण भक्ति की लोकप्रियता के कारण

1.2.3. सगुण भक्तिधारा के सिद्धांत एवं विशेषताएँ

1.2.4. सगुण भक्त कवियों की विशेषताएँ

1.2.5. सगुण भक्तिधारा की उपशाखाएँ :

1.2.5.1. रामभक्ति शाखा और उसकी प्रमुख विशेषताएँ

1.2.5.2. कृष्णभक्ति शाखा और उसकी प्रमुख विशेषताएँ

1.3. कृष्णभक्ति साहित्य में सूर का स्थान

अध्याय २ : कृष्णभक्ति शाखा, पुष्टिमार्ग और अष्टछाप

2.1. कृष्णभक्ति शाखा : परंपरा और प्रवृत्तियाँ

2.2. दर्शन और जीवन दर्शन

2.3. कृष्णभक्ति काव्य : सामान्य प्रवृत्तियाँ

2.4. सूरदास और पुष्टिमार्ग

2.4.1. पुष्टिमार्ग का स्वरूप

2.4.2. पुष्टिमार्ग और सेवा–विधि

2.4.3. अष्टछाप की स्थापना और अष्टछाप के कवियों पर सूर का प्रभाव

अध्याय ३ : सूरदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व :

3.1. व्यक्तित्व :

3.1.1. नाम, जाति और वंश परिचय, माता–पिता, पारिवारिक जीवन, निवास स्थान

3.1.2. अंधा कवि

3.1.3. शिक्षा–दीक्षा और ज्ञान, श्री वल्लभाचार्य से साक्षात्कार

3.1.4. जीवन की प्रमुख अन्य घटनायें

3.2. कृतित्व

3.2.1. सूर सारावली

3.2.2. साहित्य लहरी

3.2.3. सूर सागर

3.3. सूर की काव्य–कला का मूल्यांकन

3.3.1 सूर पूर्व काव्य–कला की स्थिति

3.3.2. हिन्दी काव्य–कला को सूर की देन

3.4. सूर और अन्य कवि – कलाकार

3.4.1. सूर और कबीर आदि संत कवि

3.4.2. सूर और विद्यपति

3.4.3. सूर और तुलसी

3.5. सूर और अन्य कृष्णभक्त कवि :

3.5.1. सूर और मीरा

3.5.2. सूर और रसखान

अध्याय ४ : लोक-संस्कृति के संरक्षक एवं वरिष्ठ भक्त सूरदास

4.1. संस्कृति और सभ्यता में अन्तर

4.1.1. लोक–जीवन और संस्कृति

4.1.2 लोक साहित्य और संस्कृति

4.1.3. लोक संस्कृति के प्रमुख तत्व

4.1.4. भारतीय संस्कृति में ब्रज का महत्व और इसके संरक्षण में सूर की भूमिका

4.2. सूर की भक्ति–भावना की विशिष्टता

4.2.1. वात्सल्य भक्ति के सम्राट – सूरदास

4.2.2. सूर की पुष्टिमार्गीय भक्ति

4.2.3. सूर की दास्य भक्ति

4.2.4. सूर की सख्य भक्ति

4.2.5. सूर की माधुर्य भक्ति

अध्याय ५ : मानववादी सूरदास

5.1. मानववाद – अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप

5.2. मानववाद – ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

5.3. व्यापक मानवीय संवेदनाओं के अनुसंधाता – महाप्रभु वल्लभाचार्यजी

5.4. कृष्णभक्ति शाखा के काव्य में मानववाद और समाजबोध – आलोचकों का विचार

5.5. सूरदास के काव्य में मानववादी तत्व

5.5.1. सख्य भाव – भक्ति

5.5.2. साम्य का विचार

5.5.3. सहज का विचार

5.5.4. 'लीला' – सहज का प्रतीक

5.6. तुलसी की तुलना में सूर का वैशिष्ट्य

5.7. निष्कर्ष

उपसंहार

संदर्भ ग्रंथ-सूची

प्रथम अध्याय
भक्तिकाल और सगुण भक्ति काव्यधारा

भक्तिकाल और सगुण भक्ति काव्यधारा

१.१. भक्ति : परिभाषा एवं स्वरूप

परिभाषा :

भक्ति – 'Bhakthi' - The word 'Bhakthi' means religious devotion; adoration; loving faith, piety; devoted service.★

Devotion - Religious fervour : PIETY, an act of prayer or private worship; a religious exercise or practice other than the regular corporate worship of a congregation; the act of devoting; the fact or state of being ardently dedicated and loyal (as to an idea or person).★★

Devotion as commonly understood, is intensive love for God, Love, which ultimately leads to the realization of God.★★★

स्वरूप :

भक्ति शब्द 'भज्' सेवायाम् धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बनाया है; जिसका अर्थ है भगवान का सेवा–प्रकार।[1]

शाण्डिल्य–भक्ति–सूत्र में लिखा है कि "ईश्वर में परम अनुरुक्ति ही भक्ति है।"[2]

नारद भक्ति–सूत्र में लिखा है कि "भक्ति ईश्वर के प्रति परम–प्रेम–रूपा है और अमृत–स्वरूप भी है। जिस परम प्रेम–रूपा और अमृतस्वरूपा भक्ति को पाकर मनुष्य

★ "The Oxford Hindi-English Dictionary" --- R.S.Mc. GReger, Pg. No. 755

★★ "Merriom - Webster's Colleqiate Dictionary" --- Pg. No. 317

★★★ "Music and Temples - A Ritualistic Approach", ---L. Annapoorna, Pg. (vii) Prologue.

1. "सूर और उनका साहित्य" – डॉ. हरबंश लाल शर्मा – पृ. सं. 225
2. "शाण्डिल्य भक्ति–सूत्र", भक्ति चन्द्रिका – श्री गोपीनाथ कविराज, पृ.सं. 5

तृत्प हो जाता है, सिद्ध हो जाता है और अमर हो जाता है, जिस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है और न किसी वस्तु में आसक्त होता है; विषयभोगों के प्रति उसका कोई उत्साह नहीं रहता और आत्मानंद के साक्षात्कार के वह संसार के विषयों से निरपेक्ष होकर मस्त रहता है।''[1]

भागवतकार ने भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है, ''मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिसके द्वारा भगवान् कृष्ण में भक्ति हो; भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरंतर बनी रहे, ऐसी भक्ति से हृदय आनंद स्वरूप भगवान् की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।''[2]

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार से की है, ''भगवान में माहात्म्यपूर्वक, सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं है।''[3]

१.२. पूर्व मध्यकाल/भक्तिकाल का सामान्य परिचय :

किसी भी काल के साहित्य का निर्माण तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप ही होता है। हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्यकाल को ही हम भक्तिकाल मानते हैं। भक्तिकाल के आरंभ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थी जिनसे प्रभावित होकर कविता की धारा बदल गई। जब देश में मुसलमानों का शासन जम गया और यहाँ के राजा पराधीन हो गए तो उनकी वीरता का गुणगान फिर कौन करता? वीरगाथा–कालीन वीर भावना

---

1. नारद–भक्ति–सूत्र 1, 2, 3, 4, 5, 6; ''सूर और उनका साहित्य''–डॉ. हरबंशलाल शर्मा, पृ. सं. 225
2. ''सूर और उनका साहित्य'' – डॉ. हरबंशलाल शर्मा, पृ. सं. 225
3. ''सूर और उनका साहित्य'' – डॉ. हरबंशलाल शर्मा, पृ. सं. 226

का वर्णन करने वाले कवियों की प्रवृत्ति गायब हो गई। जनता पर मुसलमानों द्वारा अत्याचार प्रारंभ हुए। हिन्दू राजाओं के दरबारों में प्राप्त कवियों का राज्याश्रम समाप्त–सा हो गया। इसलिए कविता राजदरबारों से हटकर कुटियों में रहनेवाले साधु–संतो की आश्रित बनी, जो भगवान के चिन्तन में निमग्न रहते थे। परिणाम यह हुआ कि कविता में आश्रयदाता राजाओं के गुणगान के स्थान पर भगवान् का कीर्तिगान होने लगा। साथ ही अनेक कवियों ने सामाजिक ऊँच–नीच, जातिगत भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठाना आरंभ कर दिया और ईश्वर का गुणगान भी करते रहे। धीरे–धीरे देश के नए विदेशी शासकों द्वारा जब देश में शान्ति की स्थापना होने लगी तो भारतीय आध्यात्मिक कविता की धारा, जो वीरगाथाकालीन संघर्षपूर्ण वातावरण में दब गई थी, अपेक्षाकृत अधिक शांत वातावरण पाकर पुनः उभर आई।

भक्ति की इस प्रबल धारा से आश्चर्यचकित होकर ईसाई लेखक ग्रियर्सन ने अनुमान लगाया था कि यह भक्तिधारा ईसाइयों की भक्ति–धारा से प्रभावित होकर उत्पन्न हुई थी। ग्रियर्सन को यह भ्रम इस कारण हुआ, क्योंकि उन्हें इस पर ईसाई धर्म का प्रभाव महसूस हुआ था। दूसरे, ग्रियर्सन यहाँ की भक्ति–परंपरा के उद्‌भव और विकास के इतिहास से परिचित नहीं थे। ग्रियर्सन की यह धारणा सर्वथा निराधार और असंगत थी। उत्तर भारत में भक्ति की धारा बहुत पहले से ही बहती चली आ रही थी। परंतु परिस्थितिवश बीच में कुछ दब–सी गई थी।

जब उत्तर भारत में मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार हो रहे थे, उस समय अपेक्षाकृत अधिक निरापद एवं शान्त वातावरण वाले दक्षिण भारत में भक्ति की अबाध धारा प्रवाहित हो रही थी। उस समय दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति ने बड़ा जोर पकड़ा था। दक्षिण भारत के आलवार भक्त इसके प्रवर्तक माने जाते हैं। श्री शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य, श्री रामानंद, श्री वल्लभाचार्य आदि दार्शनिकों ने परमात्मा के स्वरूप की भिन्न–भिन्न व्याख्यायें की है। श्री रामानुजाचार्य

दक्षिण से उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार करने के लिए आए। जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ने दक्षिण में जन्म लेकर संपूर्ण भारत में भक्ति एवं हिन्दू धर्म का प्रचार किया। उनके शिष्य रामानंद के सिद्धांतों को गोस्वामी तुलसीदास ने अपनाकर रामभक्ति की सरिता बहाई। श्री मध्वाचार्य ने दक्षिण में कर्नाटक क्षेत्र में कृष्णभक्ति का प्रचार किया। चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में तथा श्री वल्लभाचार्य ने ब्रज–प्रदेश में कृष्ण–भक्ति का प्रचार किया। हमारे महाकवि सूर की कृष्णभक्ति स्वामी वल्लभाचार्य के सिद्धांतों पर आधारित थी।

उत्तर भारत में पुराणों का आधार लेकर भक्ति–भावना फैल रही थी, जिसमें विष्णु के अवतारों पर विश्वास किया जाता था। साधारण जनता स्मृति मतावलम्बी थी। नाथपंथियों का शैव धर्म भी काफी प्रभावशाली था। परंतु इन सारी भक्ति–धाराओं में से विष्णु के अवतारों – राम और कृष्ण पर विश्वास करने वाली भावना का विशेष योगदान रहा। सगुण भक्ति के मूल में अवतार की कल्पना प्रमुख रही। क्योंकि भगवान् के साकार रूप, अर्थात् अवतारों में जनता अपने रक्षक तथा भक्ति के अवलम्ब का प्रतिरूप देखती थी।

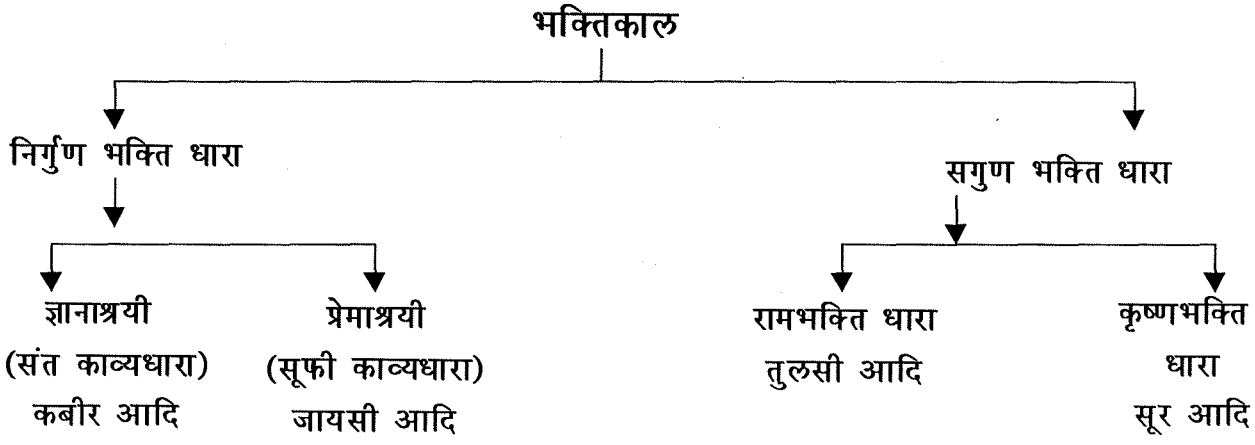

१.३. भक्तिकाल का वर्गीकरण :

पूर्व मध्यकाल / भक्तिकाल की चार प्रमुख शाखाएँ :

१. **निर्गुण पन्थ की ज्ञानाश्रयी शाखा** : यह शाखा हिन्दुओं की ओर से हिन्दू–मुस्लिम एकता स्थापित करने की इच्छा का फल थी। संत कवियों ने निगुर्णवाद में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के निकट आने की संभावना देखी। मुसलमान लोग एकेश्वरवाद के मानने वाले थे। उनका मूल मंत्र था – 'ला इलाह लिल् इल्लाह, मुहम्मद रसूल अल्लाह' (अल्लाह के सिवाय दूसरा अल्लाह नहीं है, और मुहम्मद खुदा का रसूल या दूत है)। वे लोग देवी–देवताओं की पूजा में हिन्दुओं का साथ नहीं दे सकते थे। वे बहु–ईश्वरवाद के विरुद्ध थे। हिन्दू लोग भी बहु–ईश्वरवादी नहीं थे, बल्कि ये भी सब देवी–देवताओं को एक परमात्मा का ही रूप मानते थे – 'एकम् सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।' हिन्दुओं का निर्गुणवाद खुदावाद के बहुत निकट आ जाता था।

निर्गुणवाद में खुदा की एकता और निराकारता सम्मिलित है। संत कवियों ने निर्गुणवाद के आधार पर ही राम और रहीम की एकता का समर्थन एवं हिन्दू–मुसलमानों की निरर्थक रूढ़ियों का विरोध कर, दोनों जातियों में अविरोध–भाव उत्पन्न करने का उपाय किया। महात्मा कबीर इस धारा के प्रमुख प्रवर्तक थे। उनका पालन–पोषण यद्यपि मुसलमान के घर में हुआ था, तथापि रामानंद का शिष्यत्व ग्रहण करने के कारण उनको हम हिन्दू ही कहेंगे। इसके अतिरिक्त उनकी चलायी हुई शाखा को हिन्दुओं ने ही आगे बढ़ाया।

२. **निर्गुण पन्थ की प्रेममार्गी शाखा** : यह काव्यधारा मुसलमान संतो और सूफियों की सद्भावना का फल थी। मुसलमानों का सूफी संप्रदाय हिन्दू धर्म के निकट आ जाती है। सूफी लोग हिन्दुओं के सर्वेश्वरवाद (अर्थात् सारा संसार ही ईश्वर है) के निकट पहुँच जाते हैं। सूफी लोग ईश्वर को अपने प्रेम–पात्र के रूप में देखना चाहते हैं। संतो ने हिन्दू प्रेमगाथाओं को लेकर काव्य–रचना की, और फिर उनके द्वारा ही अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। जायसी इस शाखा के प्रधान कवि थे।

३. **सगुण पन्थ की रामभक्ति शाखा** और

४. **सगुण पन्थ की कृष्णभक्ति शाखा** : ये काव्यशाखाएँ उन भक्तों के अंतस्तल से प्रवाहित हुई जो अपने इष्टदेवों की पूजा और उपासना में मग्न थे। वे देश और जाति का कल्याण भगवद् भजन में ही देखते थे। उनको राजदरबारों के ऐश्वर्य में तनिक भी आकर्षण न था। वे लोग मुसलमानों से विरोध नहीं रखते थे, लेकिन उनमें मिलने की इच्छा भी नहीं थी। वे लोग बादशाह का भी निमंत्रण आने पर कह देते थे – "संतन को कहा सीकरी सों कामं"[1]

बादशाह अकबर ने कृष्णभक्त कवि कुंभनदास के पास अपनी राजधानी फतेहपुर सीकरी आने के लिए बुलावा भेजा। तब कुंभनदास ने अकबर बादशाह की राजधानी 'सीकरी' के प्रति उदासीनता प्रदर्शित करते हुए उपर्युक्त पंक्ति कही थी।

हिन्दू धर्म में भगवान के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप मान्य हैं। संतो ने निर्गुण रूप को अपनाया, भक्तों ने सगुण और निर्गुण, दोनों को। संत लोग इस्लाम धर्म से भी प्रभावित थे। भक्त लोग विष्णु भगवान के, विशेषकर राम और कृष्ण के अवतार को मानते थे, इसलिए वे वैष्णव भी कहलाते थे।

हिन्दी साहित्य का भक्ति काल सांस्कृतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अक्षुण्ण महत्व रखता है। इस काल में एक साथ चार भक्त महाकवियों–कबीर, जायसी, सूर एवं तुलसी का प्रादुर्भाव हुआ। इन महाकवियों ने एक और विदेशी सभ्यता से अपने समाज और संस्कारों की रक्षा की, दूसरी ओर अपने ही भीतर उपजे संक्रान्ति काल का वैचारिक स्तर पर अतिक्रमण कर, इस युग के साहित्य को महत्वपूर्ण बना दिया।

---

1. "हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास" – बाबू गुलाबराय, पृ. सं. 23

१.४. भक्तिकाल की सामान्य विशेषताएँ :

हार की मनोवृत्ति में दो ही बाते संभव थीं – या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना, या विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्तिकाल में पहली प्रवृत्ति रही और रीतिकाल में दूसरी। भक्तिकाल में चार शाखाएँ अवश्य थीं, किंतु उनमें कुछ समान भावनाएँ थीं, जिनके कारण ये सब एक सम्मिलित नाम से पुकारी जा सकती हैं।

स्वांतः सुखाय भावना : संत और भक्त दोनों ही प्रकार के कवियों ने राज्याश्रय की परवाह नहीं की, और उन्होंने जो कुछ भी लिखा वह सब स्वान्तः सुखाय लिखा। कबीर ने मुसलमान शासकों के धर्म की पर्याप्त भर्त्सना की। जायसी ने 'बादशाहे–वक्त' (अपने समय के बादशाह) की स्तुति की अवश्य, किंतु 'मसनवी' (फारसी ढंग की एक काव्य–विधा) की मर्यादा–पालन मात्र के ही अर्थ। अष्टछाप के कवियों ने 'संतन को कहा सीकरी सों काम' कहकर राजाश्रय को ठुकराया।

भक्तिकाल की सामान्य विशेषताएँ

1. स्वांतः सुखाय भावना।
2. आडंबरों का हार्दिक विरोध।
3. नाम की महिमा।
4. गुरु की मान्यता।
5. भक्ति–भावना का प्राधान्य।
6. शास्त्र–ज्ञान की अपेक्षा निजी अनुभव पर विशेष बल।
7. अहंकार का त्याग।
8. साधु–संगति की महिमा।
9. उच्चतर लक्ष्य के साधक।
10. सत्य, अहिंसा, त्याग जैसे उच्चादर्शों का गान।

आडंबरों का हार्दिक विरोध :– भक्ति युग के सभी कवियों ने अपने हृदय की प्रेरणा से लिखा, किसी को खुश करने के लिए नहीं। कबीर का भी हिन्दू या मुसलमानों से द्वेष नहीं था। उनका धार्मिक बाह्याडंबर से विरोध था। तुलसी तो 'सिया राम मय सब जग जानी' के मानने वाले थे। सभी संत और भक्त कवियों के समान रूप से पायी जाने वाली भावना आडंबरों के विरोध की है। तुलसी इसलिए आडंबरी अंधभक्ति को प्रश्रय न देकर विवेकसम्मत भक्ति के पक्षधर है।

नाम की महिमा : जप, कीर्तन आदि संतो, सूफियों और भक्तों में समान रूप से मान्य हैं। महात्मा कबीर नाम को सभी रसायनों में उत्तम समझते है – "सभी रसायन

हम करी, नहीं नाम सम कोय।'' सूफियों और कृष्णभक्तों में कीर्तन का प्राधान्य रहा है। सूर ने गाया है। ''भरोसौ नाम कौ भारी।'' तुलसी ने भी राम के नाम को राम से भी बड़ा माना है। नाम में निर्गुण और सगुण, दोनों का समन्वय हो जाता है।

''अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा।।
मोरे मत बढ़ नाम दुहूँते।
किये जेहि जुग निज बस निज बूते।।''

गुरु की मान्यता : कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी बड़ा कहा है – ''गुरु है बड़े गोविन्द से, मन में देख विचार'' जायसी ने भी गुरु की वन्दना की है। तुलसी ने 'मानस' के आरंभ में ''बन्दऊँ गुरु पद पदुम परागा'' ओर सूर ने ''वल्लभ नख चंद्र छटा बिन सब जग माहिं अन्धेरो'' गाया है।

भक्ति–भावना का प्राधान्य : चारों संप्रदायों में भक्ति–भावना का मान है। कबीर ने भी भक्ति को मुख्यता दी है – ''हरि भक्ति जाने बिना बूड़ि मुआ संसार।'' प्रेममार्गियों का प्रेम भी भक्ति का ही रूप है, और भक्त तो भक्त हैं ही। भक्तों ने भी ज्ञान का विरोध नहीं किया, केवल भक्ति–विरोधी ज्ञान का खण्डन किया है। सूरदासजी गोपियों द्वारा उद्धव को कहलाते हैं – ''बार–बार यह बचन निबारों, भक्ति–विरोधी ज्ञान तिहारों।'' तुलसी तो समन्वयवादी थे ही। वे ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं बतलाते है – ''ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।'' ज्ञान और भक्ति का समन्वय करते हुए तुलसीदासजी ने भक्ति को प्रधानता दी है। भक्ति को चिन्तामणि कहा है और ज्ञान को दीपक, जो माया की हवा में बुझ जाता है।

शास्त्र–ज्ञान की अपेक्षा निजी अनुभव पर विशेष बल : कबीर ने तो 'ढाई अक्षर प्रेम' को महत्ता देते हुए पोथियों के ज्ञान को निरर्थक कहा है – "पोथी पढ़ि–पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।" तुलसी ने भी केवल 'वाक्य–ज्ञान' को अपर्याप्त समझा है – "वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण, भव पार न पावे कोई (विनय पत्रिका)।" सूर की गोपियाँ भी प्रेम के निजी अनुभव को ही प्रधानता देती हैं।

अहँकार का त्याग : यह भी भक्ति का ही दूसरा रूप है। सच्चा भक्त चाहे सगुणवादी हो चाहे निर्गुणवादी, अहंकार नहीं रख सकता। तुलसी के राम निरभिमानी हैं और रावण ब्राह्मण होते हुए भी अहंकारी होने से नाश को प्राप्त होता है।

साधु–संगति की महिमा : ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप मानने वाले संत और भक्त दोनों ही प्रकार के कवियों ने सत्संग को विशेष महत्व दिया है – "कबिरा संगति साधु की हरै और की व्याधि। संगति बुरी असाधु की आठों पहर उपाधि।" सूर ने भी कहा – "तजौ रे मन हरि विमुखनि कौ संग।" रामचरितमानस तो सत्संग की महिमा से भरा पड़ा है।

उच्चतर लक्ष्य के साधक : इन भक्त कवियों का लक्ष्य भगवत्प्राप्ति होते हुए भी उसकी प्राप्ति के अलग–अलग साधन ही उनके भक्ति मार्ग थे।

सत्य, अहिंसा, त्याग जैसे उच्चादर्शों का गान : ये भक्तिमार्गी कवि सत्य, अहिंसा, त्याग जैसे उच्चादर्शों के प्रति समर्पित थे। अपनी भक्ति–भावना को न केवल वे कविताओं में व्यक्त करते थे, बल्कि एक संत भक्त जैसे उनको अपने आचरण एवं व्यवहार में प्रकट करते थे।

१.२. सगुण भक्ति काव्यधारा की सामान्य प्रवृत्तियाँ

सगुण भक्ति काव्यधारा का सामान्य परिचय : भारत भक्ति प्रधान देश रहा है और यहाँ सदियों से भक्ति के दोनों रूप–निर्गुण और सगुण–प्रचलित रहे हैं। संस्कृत में

दोनों भक्ति पद्धतियों पर प्रचुर परिणाम में काव्य रचा गया है। सं. 1375 से दक्षिण के भक्तों द्वारा जो भक्ति आन्दोलन उत्तर भारत में प्रारंभ हुआ, उसके विकास में निर्गुण भक्तिधारा से अधिक सगुण भक्तिधारा का महत्व माना जाता है।

सगुण भक्ति का आधार : निराकार ब्रह्म जो सर्वव्याप्त तत्व और संपूर्ण सृष्टि का मूल कारण है, वह संसार में व्याप्त अनाचारों और अत्याचारियों का नाश करने तथा सनातन सत्यादर्शों की स्थापना के लिए अपनी माया शक्ति से संसार में साकार–सगुण रूप में अवतार लेता है। इस प्रकार सगुण भक्ति में ब्रह्म मूर्त रूप में अवतार हैं। यह अवतारवाद ही सगुण भक्तिधारा का मूलाधार है। अवतारवाद के मूल में जहाँ एक ओर लोकरक्षण या लोकमंगल की भावना काम कर रही थी, वहीं दूसरी ओर भक्तों को आनंदमय करने के लिए लोकरंजन की भावना भी काम करती है। ये दोनों भावनाएँ ही जीवन के सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की रक्षा करने में सक्षम हैं। यही कारण है कि सगुण भक्तिधारा के कवियों ने माधुर्य भाव को मुख्यता दी है, साथ ही आराध्य देव का शक्ति के अजस्त्र स्त्रोत और भण्डार के रूप में वर्णन किया है।

सगुण ब्रह्म के लोकरक्षक रूप में आराध्यदेव राम रहे तो लोकरंजन के अधिष्ठता कृष्ण बने। रामोपासना में सर्वप्रमुख कवि तुलसीदास हुए तो कृष्णेपासक कवियों में सर्वोपरि सूरदास है। इस प्रकार सगुण भक्ति–धारा की दो उपशाखाएँ निकलीं – रामोपासक और कृष्णेपासक भक्ति शाखाएँ। इन दोनों शाखाओं की मूल–भावनाओं में बहुत अधिक समानता है। इसलिए समष्टि रूप से सगुण भक्ति–धारा का सामान्य परिचय इस विवेचन में अधिक संगत और सहायक होगा।

१.२.१. सगुण भक्ति का उद्‌भव और विकास : सगुण धारा के विकास में दो प्राचीन ग्रंथों का विशेष योगदान माना जाता है – भागवत और वाल्मीकि रामायण। इनके अतिरिक्त, अन्य अनेक स्मृति–ग्रंथों का भी योगदान रहा। सर्वाधिक प्रभाव भागवत का

ही माना गया है। वैष्णव मत का, जो सगुण भक्ति–धारा का मूल उत्स माना गया है, आरंभ ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व हो गया था। इसमें नारायण अथवा भगवान की भावना भागवत या पाँचशत्र धर्म के रूप में की गई थी। आठवीं सदी में शंकर के अद्वैती मायावाद से इसका संघर्ष हुआ। कालांतर में यह श्री रामानुजार्य के श्रीसंप्रदाय के रूप में विकसित हुआ। आगे चलकर निम्बार्क स्वामी ने इसमें राम अथवा विष्णु भक्ति के स्थान पर कृष्ण भक्ति को अधिक महत्व दिया। तेरहवीं शताब्दी से मध्वाचार्य ने इस भावना को और अधिक विकसित किया। सोलहवीं सदी के लगभग वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने राधा और कृष्ण का प्रेमात्मक निरूपण कर भक्ति के सौंदर्य पक्ष को अधिक प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया। दूसरी और रामानंद ने विष्णु के स्थान पर राम की भक्ति भावना पर अधिक बल दिया और राम के शील, शक्ति, सौंदर्य समन्वित रूप का प्रचार कर लोकहित की भावना को पुष्ट किया।

१.२.२. **सगुण भक्ति की लोकप्रियता के कारण** : आचार्य शुक्ल के मनानुसार सगुण–भक्ति के सम्यक् प्रसार का दृढ़ आधार रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित विशिष्टाद्वैत का सिद्धाँत था। इसके अनुसार संपूर्ण जगत के प्राणी चिद्विशिष्ट ब्रह्म के अंश से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं। उसी अंशी भगवान का सामीप्य प्राप्त करने के लिए सगुण भक्ति–धारा का प्रवाह चला। निर्गुण–भक्ति की प्रतिद्वन्दिता में सगुण–धारा इतना अधिक प्रचार क्यों पा सकी, इसके कई कारण थे। कबीर में भक्ति–ज्ञान और योग का मिश्रण तो था, परंतु कर्म का नहीं था। कबीर का ब्रह्म ज्ञानस्वरूप और प्रेमस्वरूप ही बना रहा, धर्मस्वरूप नहीं बन सका। वह समाज की रक्षा और नियमन करने में असमर्थ या तटस्थ था। जायसी मुसलमान होने के कारण भारत की अपेक्षा फारस से अधिक प्रभावित थे, अतः जनता को अधिक प्रभावित न कर सके। दूसरा कारण यह था कि अकबर आदि शासकों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना आ गई थी। इससे सामाजिक दशा में सुधार हुआ और जनता के मनोबल में वृद्धि हुई।

उस समय जनता एक ऐसे ईश्वर का स्वरूप देखने को उत्सुक थी जिसे वह अपने सुख–दुख में अपना अभिन्न साथी और शक्तिशाली रक्षक के रूप में स्वीकार कर सके। इसी कारण जब सगुण–धारा में ईश्वर के धर्म–स्वरूप की अभिव्यक्ति लोक–रंजक और लोक–रक्षक की भावना को लेकर हुई तो जनता ने उसे तुरन्त अपना लिया। इस भक्ति के दो रूप रहे। कृष्ण–भक्ति में केवल प्रेमस्वरूप भगवान् की आराधना की गई। उसमें प्रेम–लक्षणा भक्ति ही सर्वांगपूर्ण रही। यह भगवान का लोक–रंजक रूप था, यद्यपि उसमें भी लोकरक्षक रूप कहीं–कहीं अपनी झलक दिखा जाता था। रामभक्ति में भगवान के लोकरक्षक रूप की ही स्थापना की गई। उसमें भगवान के तीन गुण–शक्ति, शील एवं सौंदर्य के समन्वय के कारण भक्ति, कर्म एवं ज्ञान का पूर्ण सामंजस्य रहा। सगुण भक्ति–धारा की व्यापकता का एक कारण और था। रामानुजाचार्य ने केवल द्विजों को ही भक्ति और धार्मिक शिक्षा का अधिकार दिया था, परंतु आगे चलकर रामानंद ने सबके लिए भक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया। स्त्री भी भक्ति की अधिकारिणी मान ली गई। उपासना में जाति–भेद को हटा दिया गया। इस धार्मिक उदारता के कारण सामान्य जनता राम–भक्ति के प्रति आकर्षित हुई।

१.२.३. सिद्धांत एवं विशेषताएँ :

सिद्धान्त
- ★ **सगुणोपासना**
- ★ **अवतार**
- ★ **भक्ति का रूप**
- ★ **भगवान का स्वरूप**
- ★ **भगवान की लीला**
- ★ **मोक्ष**

सगुण भक्ति–धारा के सिद्धाँत निम्नलिखित है :–

सगुणोपासना : ब्रह्म के दोनों रूपों में सगुण की अपेक्षा निर्गुण का रूप अधिक दुर्लभ है। इसलिए सगुण भावना के सुगम, परंतु फिर भी अगम चरित्र को चुनकर भक्त लोग उसमें अनुरक्त होते हैं।

अवतार : भगवान भक्तों के कल्याण के लिए अवतार धारण करते हैं। अवतार का मुख्य हेतु–भक्तों के लिए लीला का विस्तार करना है।

भक्ति का रूप : भक्ति के दो रूप है – रागानुगा और वैधी। रागानुगा भक्ति में तन्मयता अधिक होती है। यह एकान्तिक भक्ति है। इसमें विधि निषेध के अधिक बन्धन नहीं होते। वैधी भक्ति में आरंभ से अंत तक विधि–नियमों का पालन होता है।

भगवान का स्वरूप : भगवान के तीन रूप हैं – क्षमादान, शरणागतवत्सल और करुणायतन। इन्हीं तीन रूपों में भगवान भक्तों के करोड़ों पातकों को क्षमा कर उन्हें मोक्ष प्रदान करते हैं।

भगवान की लीला : भगवान की लीला माधुरी चार प्रकार की होती है – ऐश्वर्य–माधुरी, वेणु–माधुरी और विग्रह–माधुरी। कृष्ण–भक्तों ने वेणु–माधुरी और गोपी–लीला के रूप में क्रीड़ा–माधुरी को अपनाया। राम–भक्तों ने ऐश्वर्यमाधुरी पर अधिक बल दिया।

मोक्ष : सगुण भक्तों की भक्ति का चरम लक्ष्य 'मोक्ष' है। भक्त भगवान में लीन होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं। परंतु सूर, तुलसी आदि ने अपने आराध्य से केवल भक्ति की याचना की है, मोक्ष की नहीं। भगवान की अहर्निशि भक्ति और उसके द्वारा प्राप्त आराध्य के समीप्य–लाभ को ही भक्त मोक्ष से भी अधिक काम्य और श्रेष्ठ मानता है।

विशेषताएँ :

- ✓ वैष्णव धर्म के आदर्शों को सामने रखकर विष्णु के दो रूप – राम और कृष्ण की क्रमशः दास्य भाव और सख्य–भाव से उपासना की गई।
- ✓ दोनों में ज्ञान और कर्म से भक्ति को श्रेष्ठ ठहराया गया।
- ✓ राम–काव्य में लोक मर्यादा का विशेष ध्यान रखा गया। इसमें भगवान के लोक रक्षक और लोकरंजक–दोनों स्वरूपों को अपनाया गया। कृष्ण–काव्य में भगवान के केवल लोकरंजक रूप की स्थापना की गई।

- ✓ राम–काव्य में प्रबंधकाव्य और मुक्तक–दोनों तथा कृष्ण–काव्य में केवल मुक्तकों की रचना हुई।
- ✓ दोनों ने ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी कवियों की रहस्य–भावना और अटपटी वाणी को स्थान न देकर वेद–शास्त्र द्वारा निर्धारित, उपासना पर आधारित साधना–मार्ग को ही श्रेयस्कर समझा।
- ✓ भक्तों ने अपने कर्मों और गुणों की अपेक्षा भगवान की कृपा को अधिक महत्व दिया।
- ✓ दोनों काव्यों में साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का प्रयोग हुआ है। राम–काव्य में ब्रज और अवधी – दोनों को तथा कृष्ण–काव्य में केवल ब्रज–भाषा को अपनाया गया।
- ✓ विभिन्न प्रकार की रचना–शैलियों का प्रयोग किया गया है। भाषा, छंद, अलंकार, भाव, कल्पना, अनुभूति आदि की दृष्टि से सगुण भक्ति–काव्य हिन्दी–साहित्य का सबसे समृद्ध काव्य माना गया है।

१.२.४. सगुण भक्त कवियों की विशेषताएँ :

सगुण भक्त कवियों की विशेषताएँ

★ भक्त कवि वैष्णव थे।
★ इष्टदेव का गुणगान करते थे।
★ कविता को अभिव्यक्ति का साधन, साध्य नहीं मानते थे।
★ राजाश्रय की परवाह नहीं करते थे।
★ भगवान की कृपा को महत्ता देते थे।
★ शील सौंदर्य के उपासक थे।

- ✓ भक्त कवि वैष्णव थे, और विष्णु भगवान के सगुण और साकार रूप – जो रामकृष्णादि अवतारों में व्यक्त हुआ था – के उपासक थे।
- ✓ अपने इष्टदेव का गुणगान तथा उसकी लीलाओं का वर्णन करना वे एक धार्मिक कर्तव्य समझते थे। उसमें उनके हृदय का उल्लास और उसके कारण आत्म–निवेदन भी सम्मिलित रहता था।
- ✓ ये लोग कविता को अभिव्यक्ति का साधन–मात्र मानते थे, उसको साध्य कभी नहीं बनाया। वे कविता को काव्य–कला के लिए कभी नहीं करते थे, जबकि रीतिकालीन कवि कविता में कला को ही मुख्यता देते थे।

- ✓ ये लोग राजाश्रय की परवाह नहीं करते थे। जो लिखते थे, स्वान्तः सुखाय या लोकहिताय लिखते थे, इसीलिए वैष्णव भक्त कवि सच्चे अर्थों में जनता के कवि थे। इस बात में संत और कुछ–कुछ सूफी कवि उनसे समानता रखते थे। रीतिकालीन कवियों में यह बात नहीं थी। वे लोग अपने आश्रयदाताओं के लिए कविता करते थे।
- ✓ ये भक्त कवि अपने कर्मों और गुणों की अपेक्षा भगवान की कृपा के अधिक महत्ता देते थे।
- ✓ शील–सौंदर्य के उपासक ये कवि अपने–अपने आराध्य प्रभु में इन्हीं गुणों को साकार करके बखान करते थे।

१.२.५. सगुण भक्तिधारा की उपशाखाएँ :

१.२.५.१. रामभक्ति शाखा की प्रमुख विशेषताएँ :

- ➢ मर्यादा पुरुषोत्तम, लोकरक्षक और लोकमंगल के विधायक के रूप में श्री राम की प्रतिष्ठापन करना मुख्य उद्देश्य रहा।
- ➢ राम को शक्ति, शील और सौंदर्य के समन्वित और सजीव साकार रूप में प्रस्तुत किया।
- ➢ राम को आराध्य मानते हुए भी वैष्णव, शैव, शाक्त और स्मार्त सभी मतों को सम्मान देते हुए समन्वय के मार्ग को अपनाया।
- ➢ भक्ति के साथ भक्त कवियों ने कर्म और ज्ञान की भी प्रतिष्ठा की। इनके राम तो सतत कर्म के ही प्रतीक हैं, अतः इन्हें कर्मवाद का समर्थक मानना युक्तिसंगत होगा।
- ➢ प्रबंध काव्य रचने में ही इस धारा के कवि अधिक सचेष्ट रहे।
- ➢ भावपक्ष में इन्होंने शृंगार एवं भक्ति रसों के साथ करुणा, रौद्र, वीर आदि अन्य रसों का भी तन्मयकारी चित्रण किया है।

- विविध भाषा प्रकारों के साथ इस धारा के कवियों ने सभी प्रचलित छंद–शैलियों को अपनाने का प्रयास किया। छंदों के वैविध्य के साथ इनमें अलंकार – वैविध्य और सौष्ठव भी सराहनीय रूप में परिलक्षित होता है।
- इस धारा के कवियों ने एक विशिष्ट आदर्श और उद्देश्य को लेकर काव्य–रचना की है – असद् पर सद् की विजय का घोष इनका मुख्य उद्देश्य है।

तुलसीदास के पश्चात् इस काव्यधारा में प्राणचंद, चौहान, हृदयराम, केशवदास, सेनापति, प्रियदास कलानिधि, महाराज विश्वनाथ सिंह, रघुनाथ सिंह आदि के नाम भी महत्वपूर्ण हैं।

ब. कृष्णभक्ति शाखा :

दक्षिण के आलवार भक्तों ने सातवीं–आठवीं शती में कृष्णभक्ति का प्रबलता से प्रचार–प्रसार किया। कृष्णभक्ति को सर्वाधिक महत्व प्रदान करने में 'श्रीमद्भागवत पुराण' का बड़ा श्रेय है। इस प्रसंग में संस्कृत के सुललित कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' का भी बड़ा महत्व है। संस्कृत के साथ प्राकृतों के साहित्य में भी कृष्णभक्ति काव्य की परंपरा मिलती है। दसवीं शती के बाद जिन आचार्यों ने भक्ति आन्दोलन को बल दिया उनमें निम्बकाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य आदि के प्रचार में अधिक रुचि दिखायी।

१.२.५.२. कृष्णभक्ति की प्रमुख विशेषताएँ :

- कृष्ण ही सर्वस्व हैं – ब्रह्म हैं। जगत् और जीव इस ब्रह्मरूप (कृष्ण) के सत् और चित अंश है। ब्रह्म (कृष्ण) आनंद रूप हैं, उस आनंद को पाना ही जीवात्मा रूपी गोपियों का लक्ष्य है।
- कृष्णभक्त कवि माधुर्य भाव की भक्ति की उपासना करते है।

- कृष्णभक्त कवि माधुर्योपासना में विरह की तीव्रता के अनिवार्य मानते हैं, इसीलिए इन कवियों ने गोपियों के विरह को – भ्रमरगीत प्रसंग को – विशेष महत्व दिया है।
- शृंगार रस को सर्वोपरि स्थान दिया है। शृंगारिक कविता होने से इनकी कविता में सर्वत्र सरसता का संचार मिलता है।
- कृष्ण की बाल–किशोर–युवा काल की मधुर लीलाओं का मनोहरी अंकन हुआ है।
- इन कवियों ने सखा भाव की भक्ति को ही अपनाया है।
- पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का अनुगमन करते हुए इन कवियों ने ब्रजभूमि, यमुना, मुरली, गोवंश आदि के प्रति अपना भक्तिभाव निवेदित किया है।
- पद शैली (गीतिकाव्य) का अनुसरण किया है। संगीत की इन कवियों को गहरी और व्यापक समझ है।
- ब्रजभाषा का प्रयोग किया है।
- अलंकारों के सहज, स्वाभाविक प्रयोग में इन कवियों की रुचि है।
- मानव की रागात्मकता को परितोष देने में कृष्णभक्त कवियों का योगदान सराहनीय है।

भगवान श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का प्राधान्य है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्रजी के जीवन की–सी अनेकरूपता में अष्टछाप के कवियों का मन न रम सका। इसी कारण प्रबंध काव्य के लिए ये उचित सामग्री उपस्थित करने में असमर्थ रहे।

१.३. कृष्णभक्ति धारा में सूर का स्थान :

कृष्णभक्ति धारा में सूर का काव्य, भाव या रस की नैसर्गिकता और सहजता द्वारा हमें एक ऐसे चरम पर ले जाता है जहाँ हमारे लिए यह भेद कर पाना मुश्किल हो जाता है कि यह व्यक्तिपरक है या वस्तुपरक। सूरदास जी के काव्य में यह सीमारेखा खींची

ही नहीं जा सकती क्योंकि चाहे जितना वह वस्तुपरक हो, पर आत्मनिवेदन होने के कारण वह व्यक्तिपरक भी हैं। पर अपने व्यक्तिपरक अहं को उन्होंने श्रीकृष्ण के अनुग्रह से सर्वात्मभाव में विसर्जित कर दिया। यही उनके काव्य का कालातीत माधुर्य है। इस प्रकार सूर के मुरलीमाधुरी श्रीकृष्ण के रंजनकारी सौंदर्य ने सबका मन मोह लिया। उसने निराश जनता में आशा का, सौंदर्य का, जीवन का संचार किया। यहीं पर उनके काव्य में हमें मानवतावादी स्वर सुनायी देता है। आगे हम इसकी सविस्तार चर्चा करेंगें।

द्वितीय अध्याय
कृष्णभक्ति शाखा, पुष्टिमार्ग और अष्टछाप

कृष्णभक्ति शाखा, पुष्टिमार्ग और अष्टछाप

२.१. परंपरा और प्रवृत्तियाँ

ऐसी मान्यता है कि पौराणिक काल में, अर्थात् जब महाभारत जैसा विशालतम स्वरूपाकार वाला महाकाव्य रचा गया, तब भारतीय जीवन एवं समाज में श्रीकृष्ण को एक अवतार के रूप में मान्यता मिल चुकी थी। वैदिक युग और वेदों की रचना होने, उसके बाद ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रंथ रचे जाने तक श्रीकृष्ण का नाम और महत्व कहीं भी प्राप्त नहीं होता। ईस्वी सन् आरंभ होने के चार शती पहले मथुरा के आस–पास के जनपदों में कृष्ण भगवान के रूप में माने और पूजे जाने लगे थे। उस काल के इतिहास और साहित्य में इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। तत्पश्चात् कुछ समय तक बौद्ध–जैन मतों का बोलवाला रहा; पर शीघ्र ही इनसे प्रतिद्वन्द्विता का भाव लेकर कृष्ण–पूजा–भक्ति का प्रचार–प्रसार होने लगा था। आगे चलकर चौथी–पांचवीं शताब्दी में गुप्त साम्राटों ने भागवत् धर्म को जब अपना राजधर्म बनाया, तो भगवान और उसके अवतारों की मान्यता को भी विशेष सम्बल प्राप्त हो सका। तत्पश्चात् सातवीं–आठवीं शताब्दी में दक्षिणात्य अनन्य भक्तों ने कृष्ण–भक्ति का बढ़–चढ़कर प्रचार किया। दक्षिण से उत्तर में आकर कृष्ण–भक्ति का प्रचार–प्रसार लगभग सारे भारत में पहुँच गया।

विद्धान स्वीकारते हैं कि श्रीमद्भागवत पुराण दक्षिण भारत में रचा गया था। इसीसे अनुप्राणित होकर आगामी कई शताब्दियों तक संस्कृत–कवि कृष्ण काव्य का सृजन करते रहे। कविवर जयदेव–विरचित 'गीत गोविन्द' इस परंपरा की एक परम विशिष्ट रचना है। इसमें वर्णित भाव घोर शृंगारिक हैं, फिर भी इसकी गणना कृष्ण–भक्ति–काव्यों में की जाती है। संस्कृत में इसी को आदर्श मान अन्य काव्य भी सामने आए। हिन्दी (मैथिली में) मैथिल–कोकिल कविवर विद्यापति विरचित काव्य 'पदावली' को 'गीतगोविन्द' की परंपरा की ही माना जाता है। बारहवीं शती के बाद

संस्कृत और फिर प्राकृत में कृष्ण–जीवन पर आधारित महाकाव्य तक रचे गये। प्राकृतों में गीतों और मुक्तकों को ही अधिक रचा गया है, जो इस परंपरा की प्रसिद्धि को संकेतित करते है।

आठवीं–नौवीं शताब्दियों में कुमारिल भट्ट एवं शंकराचार्य के अद्वैतवादी एवं मायावादी सिद्धांतों के प्रचार–प्रभाव ने भक्ति–काव्य–धारा को कुछ समय के लिए अवरुद्ध कर दिया; पर बाद में ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दियों में क्रमशः स्वामी रामानंद, माध्वाचार्य, निम्बार्क स्वामी और चौदहवीं–पद्रंहवीं शताब्दियों में हुए गोस्वामी वल्लभाचार्य, सोलहवीं शती के चैतन्य महाप्रभु और सत्रहवीं शती के आचार्य स्वामी हितहरिवंश आदि के प्रभाव–प्रचार से समूचा भक्ति–आंदोलन, विशेषकर कृष्ण–भक्ति–आन्दोलन नई ऊर्जा पाकर जन–जन तक अत्यन्त तीव्र गति से पहुँचने लगा। इन आचार्यों द्वारा प्रवर्तित भक्ति के विभिन्न संप्रदायों में निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ और राधावल्लभ संप्रदाय विशेष ओजस्वी, प्रभावी एवं महत्वपूर्ण माने गये हैं। ध्यातव्य है कि कृष्ण–काव्य में राधा का आगमन 'राधावल्लभ संप्रदाय' के कारण ही संभव हुआ। आधारभूत श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध में राधा का कतई उल्लेख नहीं मिलता। जो हो, उपरोक्त सभी संप्रदायों ने कृष्ण–भक्ति को चहुँमुखी बल एवं महत्व प्रदान किया। इन सबसे समान स्तर पर प्रभावित होते हुए भी विशेषकर हिन्दी को कृष्ण–भक्ति काव्य पर वल्लभ संप्रदाय का प्रभाव सर्वाधिक स्वीकारा जाता है। तभी तो मध्यकाल के प्रायः सभी प्रमुख कृष्ण भक्त कवि इसी संप्रदाय में दीक्षित बताए जाते हैं।

हिन्दी में कृष्ण काव्य–सर्जक पहला कवि किसे माना जाए, इस संबंध में अपने 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' में डॉ. तिलकराज शर्मा ने लिखा है कि – ''कुछ विद्धान इतिहासकार हिन्दी में कृष्ण–काव्य का प्रवर्तक कवि विद्यापति को स्वीकार करते हैं, किंतु यह मान्यता ठीक नहीं। विद्यापति की 'पदावली' में बार–बार, अनुक्षण

'राधा–माधव' का नाम आने से ही कृष्ण भक्त नहीं हो जाते। वास्तव में विद्यापति शैव–मतानुयायी थे। फिर भी इतना स्वीकार किया ही जाना चाहिए कि राधा–कृष्ण को आधार बनाकर सरस काव्यों की सर्जना हो सकती है, हिन्दीवालों का ध्यान इस ओर सर्वप्रथम विद्यापति ने ही आकर्षित किया; अतः विद्यापति को इस परंपरा में रखना उचित है। बाद के कृष्ण भक्तों पर इनका प्रभाव भी निस्संदेह बहुत अधिक है ..... भक्ति काव्य में आध्यात्मिक तत्वों का सरस समावेश हो जाने से इसका अपना अलग व्यक्तित्व बन गया है। इस व्यक्तित्व निर्माण का प्रमुख श्रेय सूरदास को उनके बाद 'अष्टछाप' के अन्य कवियों को है, जिन्होंने कृष्णभक्ति काव्य को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।''[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी में कृष्णभक्ति–काव्य के प्रवर्तक सूरदास है। बाद में अष्टछाप के नंददास आदि का नाम आता है, जिनके कारण यह परंपरा आगे बढ़ सकी।

अष्टछाप के प्रमुख आठ कवि थे – सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंददास, चतुर्भुजदास और नंददास। सूरदास के बाद इस परंपरा के विकास में नंददास का विशेष और कृष्णदास का भी सामान्यतः अच्छा महत्व माना गया है। राम भक्त कवियों में से गोस्वामी तुलसीदास ने 'कृष्ण गीतावली' रचकर इस परंपरा के विकास में योगदान किया। निम्बार्क संप्रदाय, राधा वल्लभ संप्रदाय, गौड़ीय संप्रदाय के भक्तों–कवियों ने भी कृष्ण–काव्य रचे। गायनाचार्य और कृष्ण भक्त स्वामी हरिदास का नाम भी इस परंपरा के काव्यकार के रूप में लिया जाता है। रसखान, बीबी ताज, राजस्थान की कृष्ण–काव्य में विरह–वेदना को सजाने वाली अमर गायिका मीरा आदि के नाम भला कौन भुला सकता है। अकबर के 'सूरदास' नामक एक दरबारी कवि के रचे कुछ सरस पद भी मिलते हैं। 'सुदामाचरित' जैसे खण्डकाव्य के रचयिता नरोत्तमदास की गणना भी श्रेष्ठ कृष्ण्स–भक्त काव्यकारों में की जाती है। राधा वल्लभी

1. ''सूर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व'' – श्री शरण, पृ. सं. 21.

संप्रदाय के कवि हरिराम, ध्रुवदास और कुछ विशेष कृष्णभक्त कवयित्रियों में से प्रवीणराय, रत्न कुंवरि कुंबरबाई, सुथर कुंवरि, साई, रसिक बिहारी आदि के नाम भी कृष्ण–भक्ति–परंपरा को विकास देने वालों में सादर लिये जाते हैं।

भक्तिकाल के बाद रीतिकाल के प्रायः प्रत्येक कवि (भूषण आदि वीर–कवियों को छोड़कर) ने यों राधा–कृष्ण का नाम तो लिया ही है, पर परंपरा और भक्ति–भावना की दृष्टि से उन सबका कोई विशेष महत्व नहीं है।

रीतिकाल के बाद आधुनिक काल के प्रवर्तक और प्रमुख कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृष्ण के भक्त थे। इन्होंने अपने काव्य में भगवान कृष्ण के लोकोद्धारक रूप का विशेष एवं प्रमुख प्रश्रय दिया है। भारतेन्दु–मण्डल और युग के प्रायः अन्य सभी कवि भी कृष्ण भक्त थे। इन सभी ने फुटकर पद रचना द्वारा ही इस परंपरा को आगे बढ़ाया है। आधुनिक काल के कविवर जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने 'उद्धव शतक' रचकर कृष्ण–भक्ति की परंपरा के विकास में निश्चय ही महत्वपूर्ण योगदान किया है। सत्यनारायण 'कवि रत्न', वियोगी हरि, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त और रमानाथ 'रसाल' आदि के नाम भी इस भक्ति–परंपरा का काव्य–सर्जन करनेवालों में लिया जा सकता है। 'हरिऔध' रचित 'प्रियप्रवास' को आधुनिक काल और खड़ी बोली का पहला महाकाव्य माना गया है। मैथीली शरण गुप्त ने 'द्वापर' रचकर इस परंपरा का निर्वाह किया। डॉ. शर्मा की मान्यता है कि "विशुद्ध भक्ति–भाव से आरंभ होकर प्रत्येक युग–परिवेश में कृष्ण–भक्ति–काव्य का स्वर क्रमशः बदलता गया है। आधुनिक काल तक आते–आते कृष्ण का विशुद्ध लीला–बिहारी स्वरूप लोक–हितकारी, राष्ट्र उन्नायक और देश–रक्षक का हो गया है।"[1] फिर भी व्यापक दृष्टि से देखने पर इसका मूल रसिकता का स्वर एवं भाव अपरिवर्तित ही रहा है। इसमें उद्धार या मुक्ति का भाव

---

1. "सूर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व" – श्री शरण, पृ. सं. 22.

आद्यन्त समान रूप से विद्यमान है। समसामयिकता ने उसका बाह्य स्वरूप अवश्य बदल दिया है।

२.२. दर्शन और जीवन दर्शन :

आरंभ में कृष्ण–भक्ति से संबंध रखने वाले संप्रदायों की अपनी कोई प्रत्यक्षी या स्पष्ट दार्शनिक अवधारणा नहीं थी। बाद में आचार्य वल्लभ और हितहरिवंश के प्रयत्नों से इस भक्तिधारा की कुछ स्पष्ट धारणाएँ सामने आई। आचार्य वल्लभ ने दार्शनिक धरातल पर पुष्टिमार्ग का और हितहरिवंश ने राधा वल्लभी संप्रदाय का प्रवर्तन किया। इनके प्रयासों से ही कुछ सुपुष्ट होकर दार्शनिक धारणाएँ सामने आ सकी। उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :–

आचार्य वल्लभ ने प्रतिपादित किया कि ब्रह्म का अस्तित्व ही सब कुछ है। उसपर ब्रह्म के सत् ओर चित् रूपों से ही क्रमशः जीव और जगत की उत्पत्ति होती है। अपने मूल रूप में ब्रह्म सतत आनंदमय एवं आनंदस्वरूप है। आवश्यकतानुसार वही प्रकृति, जीव एवं अनेक देवी–देवताओं के रूप में अपना प्रकाट्य किया करता है। यही कारण है कि ये सभी उस ब्रह्म की लीला का अंग बनकर उसकी सन्निकटता की उत्कट अभिलाषा से परिचालित रहा करते हैं। इसी सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक मान्यता को ही आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैतवाद नाम दिया है। शुद्धाद्वैतवादी जीवन–दृष्टि से वह परम तत्व समग्रतः रस रूप से सगुण साकार है। उस चिरन्तन ब्रह्म का नाम है श्रीकृष्ण। नित्य, आनंदस्वरूप गोलोक निवासी कृष्ण के मानवीय गुण मात्र आरोपित है। इस दृष्टि से वृन्दावन, यमुना, वहाँ की प्रकृति, गोप–गोपी आदि सभी श्रीकृष्ण से अभिन्न है। कृष्ण (ब्रह्म) और ब्रज का पारस्परिक अंश–अंशी का भाव है। इस दृष्टि से ये सभी अपने मूल स्वरूप में अलग न होकर एक ही हैं। इन्ही तथ्यों के आलोक में कृष्ण–भक्ति से सम्बद्ध सभी संप्रदाय राधा–कृष्ण को ही अपना इष्ट एवं एकमात्र आराध्य स्वीकार करते हैं।

दार्शनिक स्तर पर कृष्ण–भक्तों एवं कवियों में विशुद्ध प्रेम–भाव को अपनी साधना एवं सर्जना का आधार स्वीकार किया है। उसके साथ श्रद्धा–भाव भी समन्वित है। कृष्ण–प्रेम के स्वरूप का निर्धारण आयु एवं स्वभाव के आधार पर किया एवं माना गया है। माता यशोदा एवं अन्य प्रौढ़ाओं के प्रेम में वात्सल्य भाव की प्रधानता है, तो ग्वालों–गोपियों के प्रेम में सखा भाव प्रबल एवं प्रमुख है। इन भावों के कारण भक्त–भगवान के सभी भेद–भाव स्वत; ही समाप्त हो जाते हैं फलतः प्रेम–माधुर्य का भाव कृष्ण–भक्ति एवं काव्य में स्वतः ही प्रधान हो गया है।

माधुर्य–भाव की प्रधानता रहते हुए भी विभिन्न संप्रदायों की दृष्टि में उसमें थोड़ा–बहुत अंतर आ गया है। राधा वल्लभ संप्रदाय परकीयाभाव को स्वीकार कर राधा–कृष्ण के प्रेम को एक शाश्वत एवं नित्य विहार स्वीकार करते हैं। इस कारण इन्होंने विप्रलम्भ शृंगार–काव्य को कतई महत्व नहीं दिया। बाकी के सभी कृष्ण–भक्ति–संप्रदाय माधुर्य भाव की पूर्ण परिपक्वता के दर्शन विप्रलम्भ भाव में ही स्वीकारते हैं। सूरदास आदि अष्टछाप के सभी कवियों ने विप्रलम्भ की तीव्रता का दिग्दर्शन कराया है।

ज्ञान को अपनी भक्ति–साधना का अनिवार्य तत्व स्वीकार न करते हुए भी कृष्ण भक्तों ने सद्–असद्, उचित–अनुचित की जानकारी के लिए उसका सामान्य महत्व अवश्य स्वीकारा है। ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है, तो गुरु का महत्व भी यथेष्ट स्वीकृत है। गुरु को 'महाप्रभु' तक का महत्व कृष्ण–भक्तों ने प्रदान किया, आचार्य वल्लभ और चैतन्य के आगे लगे इस संबोधन से स्पष्ट है। कृष्ण भक्त, प्रभु–नाम संकीर्तन एवं सत्संग को बहुत अधिक महत्व देते है। 'अष्टछाप' के सूरदास आदि कवि श्रीनाथ जी के मन्दिर में बारी बारी से प्रतिदिन प्रभु–नाम–संकीर्तन एवं सत्संग किया करते थे।

कृष्ण भक्ति–काव्य में पुष्टिमार्गीय मान्यताओं एवं दार्शनिक तत्वों की प्रबल प्रधानता है। पुष्टि का सामान्य अर्थ है प्रभु श्रीकृष्ण का अनुग्रह पाकर ज्ञान–ध्यान आदि को सुलभ करने के लिए प्रयत्नशील रहना। विशुद्ध प्रेम से ही प्रभु का अनुग्रह सुलभ हुआ करता है, यह इनकी संपुष्ट मान्यता है। तो इनके लिए भक्त कवि सर्वोत्तम भाव से कृष्णार्पण को ही भक्ति का चरम लक्ष्य मानते हैं। इसी उद्‌देश्य से अपनी साधना–पद्धति में सखा भाव को प्रधानता देकर भी इन्होंने नवधा भक्ति के अन्य भजन, कीर्तन, स्मरण, दर्शन आदि तत्वों को भी महत्व दिया और साधना का अंग बनाया। कृष्ण–लीला, मूर्तियों का साज–शृंगार और विविध पदार्थों के भोग–प्रसाद इसी दृष्टि से किये जाते है। यह सब देख–सुनकर ही कहा जाता है कि कृष्ण–भक्ति–पद्धति में प्रवृत्ति मार्ग–निवृत्ति मार्ग का सहज समन्वय हो गया है। कृष्ण–भक्तों की मान्यता है कि इस तरह की समन्वय–दृष्टि से संसार में रहते हुए भी सांसारिकता का भाव स्वतः ही समाप्त हो जाता है। इन दार्शनिक चेतनाओं के आलोक में कृष्ण–भक्ति शाखा की मूल प्रवृत्तियों का सहज ही अनुमान लगाया और उनका अध्ययन–विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है।

२.३. कृष्णभक्ति काव्य : सामान्य प्रवृत्तियाँ :

माधुरा–भक्ति–भावना या माधुर्य भाव, कृष्ण भक्ति शाखा ओर कृष्ण–काव्य की समस्त प्रवृत्तियों का मूल आधार स्वीकार किया जाता है। क्योंकि ये सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, ब्रह्म अवतार लेकर ही सगुण–साकार हुआ करता है, अतः सभी ने अवतारवाद की धारणा को समग्र रूप से स्वीकारा और महत्व दिया है। कृष्ण को परब्रह्म परमेश्वर का सोलहकला–संपन्न अवतार माना गया है। उनकी सुंदर मूर्ति उस परम तत्व का विस्तार ही है। कृष्ण–भक्तों की भक्ति का लक्ष्य परब्रह्म परमेश्वर के इस अवतारी लीला बिहारी की लीलाओं में प्रवेश पाकर उनसे अभिन्नता प्राप्त करना ही है। इसी अवस्था को ये लोग मुक्ति मानते हैं।

लीला–वर्णन इस भक्ति–परंपरा की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति है। इससे इन्हें परमानंद की अनुभूति होती है। बाल स्वरूप की वात्सल्यमयी लीलाएँ, किशोरावस्था की ग्वाल–बालों से सखा भाव की लीलाएँ, गोपियों के साथ तरुणाई की शृंगारिक रास–लीलाएँ ––लीला के इन तीन रूपों का कृष्ण भक्त कवियों ने अत्यन्त सजीव और प्रभावी वर्णन किया है। लीला–लीला में ही कृष्ण कई राक्षसों का वध कर डालते हैं, कालियादह में कूद नाग को नचाते हैं। गोवर्धन पर्वत उठाकर ब्रजवासियों की इन्द्र के प्रकोप से रक्षा करते हैं। इस प्रकार लोक रंजक के साथ–साथ उनके रक्षक स्वरूप का भी चित्रण सामान्यतया हो जाता है।

कृष्ण–भक्तों ने अपनी भक्ति का आधार भगवद्रति को बनाया है। इसी से इस रूप भक्ति रस या उज्जवल रस का स्वरूप बनता है। समय और आयु के अनुसार इस भगवद्रति पर भक्ति–भाव का विस्तार ही क्रमशः वात्सल्य, सखा और कान्ता भाव के रूप में दिखाया एवं चितारा गया है। प्रेमलक्षणा होने के कारण ही इसमें लोकाचार या मर्यादा आदि के बन्धनों, विधि–निषेधों का कोई महत्व नहीं है। स्वकीया–परकीया आदि सभी भावों में सौंदर्योपासना ही प्रमुख एवं महत्वपूर्ण है। ऐन्द्रिकता, वासना एवं अश्लीलता आदि का इस भक्ति–भावना में कतई कोई स्थान नहीं है। यहाँ प्रेम–वर्णन की प्रवृत्ति प्रधान है और प्रेम को भक्त लौकिक नहीं अलौकिक ततव स्वीकारते हैं। परंतु बाद में मठो–मंदिरों के पुजारियों आदि की दृष्टि में विलासिता आ जाने के कारण कुछ लौकिक प्रेम–तत्व भी इसमें समाविष्ट हो गए। मंदिरों–मठों में राधा–कृष्ण नैवेद्य, नर्तकियों के मादक नृत्य और मंदिरों के गोस्वामियों के आगे सर्वोत्मभाव से तन–अर्पण आदि लौकिक तत्व ही कहे जा सकते हैं।

जहाँ तक कृष्णभक्त कवियों की रस–साधना का प्रश्न है, मूल रस भक्ति या उज्जवल रस ही है। परंतु शास्त्रीय दृष्टि से वात्सल्य, शृंगार और शान्त भी इसी में ही

समाहित या समन्वित हो गए हैं। वात्सल्य–शृंगार के संयोग–वियोग दोनों पक्षों का सजीव चित्रण इस काव्य धारा की प्रमुख विशेषता और प्रवृत्ति दोनों हैं। इन दोनों रसों के समस्त भावों–अनुभवों का चित्रण कवियों ने जम कर किया है। इस दिशा में कविवर सूरदास की काव्य–रचना अजोड़ स्वीकारी जाती है। उनके 'भ्रमरगीत' का जवाब नहीं। कवियों ने सब प्रकार की लीलाओं का संयोजक गोपियों को नहीं बल्कि श्रीकृष्ण को बनाया हे। 'भ्रमरगीत' में सगुण की विजय की सर्वथा मौलिक कल्पना एवं समावेश है।

कृष्ण भक्त कवियों ने प्रकृति के अन्तः बाह्य दोनों रूपों का बड़ा ही सजीव एवं स्वाभाविक चित्रण किया है। 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' के कर्ता डॉ. शर्मा के अनुसार – "इस शाखा के कवियों ने दृश्य जगत् के प्रत्येक रूप का ही हृदयग्रही चित्रण किया है। वृन्दावन, यमुना तट, कुंज–भवज आदि के वर्णन में इनकी प्रकृति चित्रणों में निरत प्रवृत्ति खूब रमी है। उपमानों के विधान में भी प्रकृति का साहचर्य निश्चय ही प्रशंसनीय है। भावों के स्पष्टीकरण के लिए प्रकृति का अनेकशः आश्रय लिया गया है, जो वास्तव में स्तुत्य है। संक्षेपतः प्रकृति का जो भी रूप कृष्ण–काव्य में मिलता है, अत्यन्त सजीव एवं ग्राह्य है।[1]

युग–चित्रण की प्रवृत्ति का कृष्ण काव्य में नितांत अभाव है। क्योंकि यह काव्य–धारा मधुर–लीला–प्रधान है, इसी कारण इसमें व्यावहारिक दृष्टि से सामाजिक परिवेश कतई चितारा नहीं गया। भक्ति के स्तर की सामान्य सी झलक लीला–वर्णनों में अवश्य मिल जाती है। यही कारण है कि सिवा भक्तों के कृष्ण–काव्य अन्य किसी को आन्दोलित उत्प्रेरित नहीं कर पाया। एक–सीमा तक आडंबरों–पाखण्डों का विरोध कर जीवन समाज के माधुर्य भाव को सम्बल प्रदान किया। सभी जातियों के लिए भक्ति मार्ग का द्वारा उद्घाटित करने का महत्वपूर्ण कार्य अवश्य ही इस भक्ति–धारा द्वारा संभव हो सका।

---

1. "सूर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व" – श्री शरण, पृ. सं. 28.

कृष्ण–काव्य की भाव–पक्ष संबंधी उपरिवर्णित प्रवृत्तियों को जान लेने के बाद अब कला–पक्ष संबंधी कुछ प्रवृत्तियों पर सामान्य विचार कर लेना उपयुक्त रहेगा। यह स्पष्ट है माधुर्योपासक कवियों का लक्ष्य कृष्ण–जीवन की समग्र कथा कहना नहीं था। लक्ष्य मात्र मार्मिक माधुर्य मण्डित प्रसंगों का कथन एवं चित्रण ही थी। फिर भी कृष्ण–जन्म से लेकर मथुरा–गमन और उसके बाद ब्रजवासियों की विरह–दशा वर्णन तक की घटनाओं का इन काव्यों में क्रमशः समावेश हो गया। इस कारण डॉ. तिलकराज शर्मा ने अपने रचे इतिहास में कृष्ण–कवियों की रचना शैली को 'प्रबन्धात्मक प्रगीत मुक्तक' कहा है। उसमें 'कृष्ण की लीलाओं' के वर्णन का मुक्त क्रम तो है ही, प्रगीतात्मकता एवं गेयता भी यथेष्ठ है। इसमें कलात्मकता एवं प्रभाविष्णुता भी अपने संपूर्ण रूप में विद्यमान है। रचना शैली या अभिव्यक्ति पक्ष का संबंध भाषा से भी माना जाता है। इससे यह ध्यातव्य है कि कृष्ण भक्त कवियों ने अपने आराध्य के प्रदेश की भाषा अर्थात् ब्रज भाषा को ही अपनाया एवं महत्व दिया है। ब्रजभाषा के लोक–रूप और साहित्यिक रूप दोनों के स्वाभाविक लालित्य एवं माधुर्य की कवियों ने हर संभव रूप एवं स्तर की उचित रक्षा की है। भाषा सभी प्रकार से संपन्न एवं हर प्रकार के भाव को स्पष्ट स्वरूपाकार प्रदान कर पाने में समर्थ है।

समूचा कृष्ण–काव्य प्रमुखतः गेय पदों, शास्त्रीय–राग–रागनियों में ही रचा गया है। लेकिन रसखान के सवैये भी प्रसिद्ध है। राग–रागनियों के अतिरिक्त कृष्णस–भक्त कवियों ने सवैया, सरसी, सार, चौपाई और चौबोला आदि छंदो को भी अपनाकर उनका सजीव रूप से उचित प्रयोग किया है। नंददास के काव्य में दोहा और रोला छंदो का भी प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, हरिगीतिका, अरिल्ल, गीतिका आदि छंदों का प्रयोग भी कृष्ण काव्य में सजीव–सार्थक रूप में किया गया है। कृष्ण–भक्त कवियों ने साम्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग अधिक किया है। निरायास रूप से और सौंदर्य–वर्द्धन में सहायक रूप में अलंकार का प्रयोग एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है।

इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भाव और कला दोनों स्तरों पर कवियों ने सरस–मधुर प्रवृत्तियों का ही उचित निर्वाह किया है। भक्तों के आराध्य श्रीकृष्ण जन्म से लेकर तरुणाई तक का व्यक्तित्व जिस प्रकार के कोमल–कान्त तत्वों से विनिर्मित है, उसी प्रकार की कोमल, कान्त और मधुर प्रवृत्तियों को ही भक्तों एवं कवियों ने आद्यान्त प्रश्रय दिया है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने भी प्रवृत्यात्मक दृष्टि से कृष्ण–काव्य का मानवीय रसिकता को उद्‌बुद्ध करने वाला, अन्तर्निहित अनुराग–लालसा को ऊर्ध्वमुखी बनाने वाला एवं अनवरत रससिक्त करनेवाला स्वीकार किया है। इन मूल प्रवृत्तियों, दार्शनिक चेतनाओं के आलोक में ही किसी कृष्ण–भक्त कवि एवं उसके काव्य आदि का सम्यग् अध्ययन, विवेचन एवं विश्लेषण किया जा सकता है।

२.४. सूरदास और पुष्टिमार्ग :

शुद्धाद्वैत सिद्धांत के निर्माण के अनंतर श्रीमद्‌वल्लभाचार्य जी ने सोचा कि मस्तिष्क प्रधान मनुष्य शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद के विशुद्ध ज्ञान से शुद्ध होकर इस संसार से मुक्त हो जाऐंगे, किंतु केवल हृदय प्रधान भावुक व्यक्ति किस प्रकार इस संसार से मुक्त हो सकेंगे, इस विचार के फल स्वरूप उन्होंने प्रेम को अपनाया; क्योंकि प्रेम ही एक ऐसा अनुपम तत्व है, जिससे केवल मनुष्य ही नहीं, पशु–पक्षी भी प्रभावित रहते हैं। चैतन्य स्वरूप प्रत्येक जीव का हृदय इस प्रेम की ओर सदा झुका हुआ रहता है। शास्त्रों में भी की अगणित महिमा बतलायी गयी है। यहाँ तक कि किसी भी साधन से सर्वदा अप्राप्य ऐसे परम–तत्व रूप श्रीकृष्ण भी प्रेम से सुलभ हो जाते हैं। प्रेम से ही भगवान श्रीकृष्ण कृपा युक्त होकर गोपीजनों के अधीन हुए है, इसलिए प्रेममय श्रीकृष्ण की साक्षात् कृपा प्राप्त करने के लिए आचार्य जी ने इस प्रेम को ही अपनाया, ताकि जीव सरलता पूर्वक कृष्णासक्त होकर इस संसार से मुक्त हो जाए।

वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि–भक्ति को साधारण–भक्ति से भिन्न माना है। हरिराय जी ने हरिराय–वाङ् मुक्तावली (भाग 1) में पुष्टि–मार्ग के लक्षण इस प्रकार दिये है :

"सर्वसाधनराहित्यं फलासौ यत्र साधनम्।
फलं वा साधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते।।1।।
अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
नयत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते।।2।।
सम्बन्धः साधनं यत्र फलं सम्बन्ध एव हि।
सो पि कृष्णोच्छया जातः पुष्टिमार्गः स कथ्यते।।10।।
यत्र वा सुखसंबंधो वियोगे संगमादपि।
सर्वलीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते।।15।।
समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र वै।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते।।16।।[★1]

अर्थात् – जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम; सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण की स्वरूप–प्राप्ति में साधन है, अथवा जहाँ जो फल है, वही साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं और जिस मार्ग में सर्व सिद्धियों का हेतु भगवान का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक संबंध ही साधन रूप बनकर भगवान् की इच्छा के बल पर फलस्वरूप संबंध बनते है, जिस मार्ग में भगवत्–विरह–अवस्था में भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस मार्ग में सर्वभावों में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का समर्पण है और वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।

---

1. "सूर और उनका साहित्य" – डॉ. हरबंशलाल शर्मा, पृ.सं. 255
हरिराय वाङ्मुक्तावली भाग 1 (1,2,10,15,16)

२.४.१. पुष्टिमार्ग का स्वरूप :

आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग भाव साधना का मार्ग है। यह माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ प्रेम का मार्ग है, जिसके साधक ईश्वर साक्षात्कार अथवा परमानंद की अनुभूति समस्त लौकिक, वैदिक, भव बंधनों का त्याग करके ही कर सकते हैं। वल्लभाचार्य जी के मतानुसार इस मार्ग में कृष्णानुग्रह रुपपुष्टि ही एक मात्र कारण रूप है। "वल्लभाचार्य जी ने श्रीमद्भागवत के "पोषण तदनुग्रह" के आधार पर "अणुभाष्य" में यह स्पष्ट किया है कि "पुष्टिमार्ग" केवल भगवदनुग्रह से ही साध्य हो सकता है।[1] आचार्य जी ने विशुद्ध प्रेम को ही शुद्ध पुष्टि कहा है। पुष्टि प्रवाह–मर्यादा भेद में निरूपित किया गया है कि सामान्य अनुग्रह से मर्यादा भक्ति और विशेष अनुग्रह से पुष्टि भक्ति या प्रेमभक्ति की प्राप्ति होती है। इसे ही रागानुगा अथवा मधुरा भक्ति कहते हैं। मधुरा भक्ति में प्रेम का ही महत्व होता है। प्रेम ही इस मार्ग का सर्वस्व कहा जा सकता है। इस कारण इस प्रेम भाव की रक्षा करना भक्त का आदि कर्तव्य है।

"विशुद्ध प्रेम के दृष्टान्त गोपी जन है। इसलिए उन्हें पुष्टि के गुरु मानकर आचार्य जी ने उनके प्रेमात्मक साधनों को पुष्टि भक्ति के मुख्य साधन माना है।"[2]

ब्रज में तीन प्रकार के गोपीजन है :

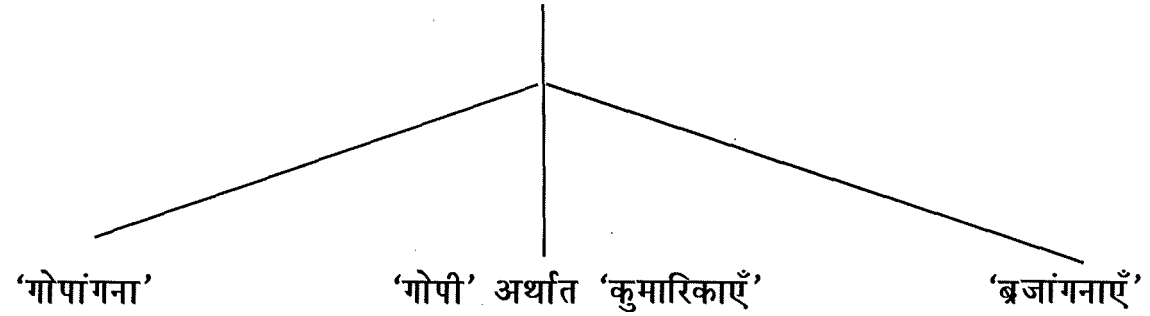

---

1. "सूर की भाव–साधना" – डॉ. नरेन्द्र सिंह फौजदार, पृ.सं. 127
2. वही

इन तीनों में 'गोपांगनाओं' ने लोक वेद भय से मुक्त होकर और सर्वधर्मों के त्याग पूर्वक शुद्ध प्रेम से केवल पुरुषोत्तम का ही 'साक्षात' भजन किया है, इसलिए ये ''पुष्टिपुष्टि'' रूप हैं। इस प्रकार के भजन में परकीय भावना वाले उत्कृष्ट प्रेम–व्यसन की स्थिति रहती है।

दूसरी 'गोपी' अथवा 'कुमारिकाओं' ने कात्यायनी व्रत आदि से पुरुषोत्तम का 'परोक्ष' भजन किया है, इसलिए ''पुष्टिमर्यादा'' रूप हैं। इस प्रकार के भजन में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ स्नेह–स्वकीय स्त्री भावना वाली आसक्ति की स्थिति रहती हैं।

तीसरी 'ब्रजांगनाओं' ने पुरुषोत्तम का लोकवत् बाल भाव से भजन किया है, इसलिए ये ''पुष्टिप्रवाह'' रूप हैं। इस प्रकार के भजन में केवल वात्सल्य भावना की स्थिति रहती है।[1]

आचार्य जी ने इन तीनों भावनाओं की पुष्टि–भक्ति का मुख्य साधन माना है। इन त्रिविध भावना–साधनों से जिस कलात्मक विशुद्ध प्रेम रूप शुद्ध पुष्टि की प्राप्ति होती है, उसको श्री वल्लभाचार्य जी ने ''स्वाधीना'' अथवा ''स्वतंत्र भक्ति'' कहा है। आचार्य जी का मत है कि जब तक कृष्ण की अधीनता रहती है, तब तक 'मर्यादा' है और स्वाधीन अवस्था को 'पुष्टि' कहते है।

२.४.२. पुष्टिमार्ग और सेवा विधि :

पुष्टि–मार्ग में प्रभु–सेवा को ही लक्ष्य माना गया है। पुष्टि–संप्रदाय में सेवा का बड़ा महत्व है और वास्तव में सेवा–विधि संप्रदाय की अपनी मौलिकता है। संक्षेप से पुष्टि–मार्गीय सेवा–विधि का क्रम इस प्रकार है :

---

1. ''सूर –निर्णय'' – द्वारकादास परीख, प्रभुदयाल मीतल, पृ. सं. 204, 205

१. **पुष्टि–मार्ग के अनुसार सेवा के दो प्रकार हैं** – नाम सेवा और स्वरूप सेवा स्वरूप सेवा तीन प्रकार की हैं – तनुजा, वित्तजा और मानसी। मानसी सेवा भी दो प्रकार की है – मर्यादा–मार्गीय और पुष्टि–मार्गीय। मर्यादा–मार्गीय मानसी सेवा में शास्त्रानुकूल मर्यादा–मात्र पर चलते हुए भक्त भगवान श्रीकृष्ण की सेवा और आराधना करता हुआ अपनी अहंता और ममता को दूर करता है।

२. **पुष्टि–मार्गीय सेवा–विधि के दो क्रम हैं** – नित्य सेवा–विधि तथा वर्षोत्सव की सेवा–विधि। प्रातः काल से शयन पर्यन्त की नित्य सेवा–विधि और विशेष अवसरों पर की वर्षोत्सव की सेवा–विधि कही जाती है। नित्य सेवा–विधि में वात्सल्य भाव की ही प्रधानता है और उसके लिए आठ समय बताये गए हैं :

(i) मंगला, (ii) शृंगार, (iii) ग्वाल, (iv) राजभोग, (v) उत्थापन, (vi) भोग, (vii) संध्या आरती, और (viii) शयन। वर्षोत्सव की सेवा–विधि में श्रीकृष्ण के नित्य और अवतार–लीलाओं के उत्सव, छः ऋतुओं के उत्सव, लोक–त्यौहार और वैदिक पर्वों के उत्सव तथा अन्य अवतारों की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं।

३. **नित्य और वर्षोत्सव** : दोनों प्रकार की सेवा–विधियों के तीन मुख्य अंग हैं – शृंगार, भोग, राग। साधारणतया मनुष्य इन्हीं तीनों सांसारिक विषयों में फँसा रहता है। उनसे मुक्ति पाने के लिए वल्लभाचार्य जी ने इन तीनों ही विषयों को भगवान् में लगा देने का उपदेश दिया, जिससे ये भगवान् स्वरूप हो जायँ।

२.४.३. अष्टछाप की स्थापना और अष्टछाप के कवियों पर सूर का प्रभाव

अष्टछाप की स्थापना :

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन का जो 'मंडान' प्रचलित किया था, उसके सर्वप्रथम नियमित कीर्तनकार सूरदास थे; उनके पश्चात् परमानंददास हुए। कुंभनदास यद्यपि सूरदास से भी पूर्व कीर्तन करते थे, किंतु वे गृहस्थ होने के

कारण नियमित रूप से अपना समय देने में असमर्थ थे। इस प्रकार महाप्रभुजी के समय में सूरदास एवं परमानंददास नियमित रूप से श्रीनाथ जी की सभी झाँकियों में कीर्तन करते थे और कुंभनदास अपने अवकाशानुसार उनको सहयोग देते थे। महाप्रभु जी के पश्चात् गोपीनाथ जी के समय में भी यही क्रम चलता रहा। गो. विट्ठलनाथ जी के समय में इस कीर्तन प्रणाली को व्यवस्थित एवं विस्तृत किया गया और श्रीनाथजी की आठों समय की झाँकियों के पृथक्–पृथक् कीर्तनकार नियत किये गये। उस समय तक सर्वोच्च श्रेणी के कई अन्य कीर्तनकार भी संप्रदाय में सम्मिलित हो चुके थे, अतः गो. विट्ठलनाथ जी ने संप्रदाय के प्रमुख आठ कीर्तनकारों को श्रीनाथजी के मंदिर में नियमित रूप से कीर्तन करने को नियत किया। उनमें से सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास और कृष्णदास – ये चार महाप्रभुजी के सेवक थे तथा छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास – ये चार गोसाई जी के सेवक थे।

सेवा के भोग, राग और शृंगार प्रमुख अंग हैं। गो. विट्ठलनाथ जी ने उक्त तीनों अंगों को व्यवस्थित एवं विस्तृत किया था। सेवा का रागात्मक अंग कीर्तन है, जिसका विस्तार अनेक राग–रागिनी और वाद्य यंत्रों के साथ किया गया। श्रीनाथ जी के आठ समय के दर्शनों के आठ प्रमुख कीर्तनकार थे, जो 'अष्टछाप' अथवा 'अष्ट काव्य वारे' कहलाते थे। इन कीर्तनकारों में सूरदास प्रमुख थे।

अष्टछाप के आठवें कीर्तनकार महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के सेवक विष्णुदास छीपा थे। यही कारण है कि श्री द्वारकानाथ जी महाराज उपनाम 'द्वारकेश' कृप छप्पय में नंददास के स्थान पर विष्णुदास का नाम मिलता है। जब नंददास दुबारा ब्रज में आये, तब विष्णुदास छीपा अत्यंत वृद्ध होने के कारण गोसाई जी के द्वार–रक्षक बनाये गये और नंददास उनके स्थान पर श्रीनाथ जी के कीर्तनकार नियत किये गये।

श्रीनाथ जी की अनन्य व्यक्ति के कारण अष्टछाप के आठों कवियों को अपने इष्टदेव का साक्षात्कार भी प्राप्त था। वार्ता में लिखा है कि स्वयं श्रीनाथ जी सखा भाव से उनके साथ खेलते थे। इन कारणों से वे 'अष्टसखा' के नाम से भी प्रसिद्ध हुए और श्रीमद्भागवत के आधार पर उनके सखात्व के नाम भी निश्चित किये गये। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण ने अपने सखाओं को निम्न नामों रो संबोधित किया है –

हे कृष्ण स्तोक, हे अंशो, श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालर्षभ तेजस्विन्, देवप्रस्थ वरूथप।।[1]

उपर्युक्त एकादश सखाओं में कृष्ण से ऋषभ तक के आठ नाम सूरदास आदि आठों भक्त कवियों के माने गये हैं। इन आठों में सूरदास मुख्य थे, अतः उनका नाम 'कृष्ण' सर्वथा उचित भी था। सूरदास की रचनाओं में जो 'सूरश्याम' नाम की छाप मिलती है, उसका कारण भी उनका यह 'कृष्ण' नाम ही ज्ञात होता है।

पुष्टिमार्ग में वात्सल्यभाव :

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने पुष्टिमार्ग में बालकृष्ण की उपासना को प्रतिष्ठित किया। रुद्र संप्रदाय के प्रवर्तक श्रीविष्णु स्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर वल्लभाचार्य बैठे थे। विष्णु स्वामी ने श्रीकृष्ण को स्वयं ईश्वर माना है ओर आख्यायिका के अनुसार श्रीकृष्ण ने उन्हें बालरूप में दर्शन दिए थे।

सुदूर दक्षिण में (तमिलनाडु में) बालदेवता मुरुगन (कार्तिकेय) की भक्ति प्राचीन काल से प्रचलित थी और आज तक विद्यमान है। वहाँ दूसरे बाल देवता लोकप्रिय थे – मायोन, जो आगे चलकर कन्नन, बालकृष्ण (उन्नीकृष्णन) के रूप में सामने आए। आळवार संतों ने बालकृष्ण की लीलाओं का और वात्सल्य भाव का मधुर गान किया है।

1. श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध पूर्वार्द्ध, अध्याय 22.

11वीं शती से दक्षिण भारत में पंढरपुर क्षेत्र कृष्ण–भक्ति के केंद्र के रूप में उभरने लगा। 13वीं शती से लेकर पंढरपुर के भगवान् विट्ठल की भक्ति को लेकर महाराष्ट्र के भागवत संप्रदाय (वारकरी संप्रदाय) का व्यापक आंदोलन उठ खड़ा हुआ। भगवान् विट्ठल को बालकृष्ण का ही रूप माना जाता है। सभी वारकरी संतों ने विट्ठल को आराध्य मानकर बालकृष्ण की लीलाओं का गान तन्मयता के साथ किया है।

श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्य की सुबोधिनी टीका और तत्पश्चात् उनकी परंपरा के पंडितों द्वारा सुबोधिनी टीका पर लिखी टीकाओं के आधार पर विद्वान मानते है कि वल्लभ संप्रदाय में मूलतः माधुर्य भाव ही है और भक्तों के लिए वात्सल्य भाव भक्तिमार्ग का प्रारंभिक चरण है। वल्लभाचार्य की जीवनी के अनुसार वे कई बार पंढरपुर आए थे। उन्होंने वहाँ बैठक भी की थी, जो आज भी वहाँ स्थित है। भगवान् विट्ठल के आदेश से ही उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। अपने पुत्र का नाम भी उन्होंने विट्ठल रखा था। इन बातों से प्रमाणित होता है कि पंढरपुर के भगवान् विट्ठल का गहरा प्रभाव वल्लभाचार्य पर हुआ था। पंढरपुर का बाल रूप और भक्तजनों की उसके प्रति अनन्य भक्ति का अनुभव उन्होंने स्वयं किया होगा। अतः पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन करते समय उन्होंने भगवान् के बाल रूप को वरीयता दी होगी।

पुष्टिमार्ग में अष्टछाप सेवा प्रचलित है। भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य लीलाओं में वात्सल्य भाव की बाल–छवि, जागरण, बालक्रीडा, दधि–मंथन, वेश तथा यशोदा का वात्सल्य भाव, सख्य भाव का गोचारण, गोदोहन, चौगान, चकड़ोरी, माखन–चोरी, वन–लीला, गो–टेरन तथा माधुर्य की अनुराग, मुरली–माधुरी, गोपी–भाव और निकुंज लीला को अष्टयाम सेवा में स्थान प्राप्त है। अष्टछाप कवियों ने इन्हीं लीलाओं का गान किया है। नित्य लीला में रासलीला नहीं है, यद्यपि सूरदास, परमानंददास और नंददास ने रास लीला का विस्तार से वर्णन किया है। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य

ने नित्य सेवा के लिए श्रीकृष्ण के बालरूप को ही ग्रहण किया था। पुष्टिमार्ग में भक्ति का प्रथम सोपान वात्सल्य भाव है। अष्टयाम की सेवा–विधि में वात्सल्य का प्राधान्य होने के कारण राधा या कांता भाव से सेवा करनेवाली अन्य किसी गोपिका को नित्य सेवा में स्थान मिल ही नहीं पाया। संभवतः श्रीविट्ठलनाथजी के समय में ही संप्रदाय में सर्वप्रथम राधा का प्रवेश हुआ, जिसे चैतन्य संप्रदाय का प्रभाव माना जाता है।

अष्टछाप के कवियों पर सूर का प्रभाव :

अष्टछाप के कवियों पर सूर का प्रभाव निश्चित है। सूर ही अष्ट कवियों के सव्रश्रेष्ठ और सर्वप्रिय थे। कुंभनदास को छोड़कर सभी उनसे छोटे थे। सभी श्रीनाथ जी के कीर्तनिया थे और स्वरचित पदों से प्रभु का कीर्तन करते थे। सूरदास जी ने अपने पदों से जगतवंद्य महाप्रभु वल्लभाचार्य जी को परम संतोष दिया था। ऐसी अवस्था में अपने कीर्तनों की रचना में सभी कवियों का सूर का अनुकरण करना स्वाभाविक है।

कुंभनदास : कुंभनदास जी सं. 1550 में ही श्रीनाथ जी के प्रथम कीर्तनकार नियुक्त हुए थे। इनके 17 वर्ष पश्चात् सूरदास जी श्रीनाथ जी की सेवा में आये। इनके पश्चात् कुंभनदास और सूर जीवन पर्यन्त साथ–साथ कीर्तन करते रहे। सूर छोटे थे फिर भी उनकी प्रसिद्धि और अष्टछाप के कवियों में उनकी प्रतिष्ठा ने यदि कुंभनदास को भी प्रभावित किया हो तो कठिन नहीं। 60 वर्षों तक (1550 से 1640 तक) कीर्तन करते रहने पर भी कुंभनदास के पदों की संख्या 200 से अधिक नहीं है। कुंभनदास जी भक्त ह्रदय तो थे किंतु कवि अथवा संगीतज्ञ साधारण कोटि के थे। इनके प्राप्त पदों में सूर के पदों से साम्य मिलता है। कुंभनदास जी प्रतिभाशाली कवि न थे, इसीलिए सूर की कलात्मक पद–शैली उनके पदों में नहीं प्राप्त होती। फिर भी सूर की शब्दावली और उपमान योजना का प्रभाव उन पर कहीं–कहीं प्राप्त होता है। जैसे –

नीके दुहि जानति गैया।
कुँवर रसिक मन मोहन लगौं तिहारे पैया।
जानि करि कनक–दोहनी धर ते पठई मैया।
हिं है यह खरिक हमारौ नागर लेहुँ बलैया।
त परम सुदेस लरिकई चित चहुँट्यौ सुंदरैया।
ास प्रभु मान लई रति गिरि गोवरधन रैया।"[1]

पद में सूर की पद–रचना की झलक स्पष्ट है। 'कुँवर रसिक मनमोहन', 'कनक दोहनी', 'नागर', 'खरिक' सूर के शब्द है। अंतर केवल यह है कि 'कुँवर रसिक मनमोहन' और 'नागर' आदि शब्दों का प्रयोग सूर ने विशिष्ट प्रणय प्रसंगों, सुख–विलास, मान लीला आदि में ही किया है, कुंभनदास जी ने इनका प्रयोग सामान्य अर्थ में किया है। सूर की पर्याय ध्वनि का मर्म वे न समझ सके।

सूर की उपमान–योजना का प्रभाव भी कुंभनदास के पदों में प्राप्त होता है।

परमानंददास : अष्टछाप में कुंभनदास और सूरदासजी के पश्चात् परमानंददासजी का नाम आता है। परमानंददास जी भी महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। महाप्रभु की शरण आने से पूर्व ये भी कवि और गायक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। इनकी रचना स्फुट पदों में है। इनके काव्य के विषय सूरसागर दशम स्कन्ध के सरस प्रसंग है। बाल–लीला, माखनचोरी, गोदोहन, गोचारण, दान–लीला, पनघट–लीला, गोपियों की रूपासक्ति, निकुंज–लीला, विहार, खंडित, वसन्त–लीला, गोपी–विरह और भ्रमर गीत इनके मुख्य विषय हैं। सूर की भी मूल–रचना इन्हीं विषयों पर स्फुट पदों के रूप में थी और ये ही सूर की कला के आधार हैं। परमानंददास जी के पदों और सूर के पदों में न केवल विषय–साम्य है, वरन् पद–रचना और अभिव्यंजना कौशल में भी दोनों एक ही पथ के पथिक हैं।

---

1. अष्टछाप परिचय (प्रभुदयाल मीतल), कुंभनदास पद संग्रह, पद 6, पृ. 67।

परमानंददास के पदों में उतने अधिक राग नहीं मिलते जितने सूरसागर में हैं, किंतु जो राग उनमें हैं उनका स्वरूप सूर जैसा ही है। सूर ने भ्रमरगीत की दूसरी लीला चौपाई छंद में गायी है। परमानंददास ने भी भ्रमरगीत का एक लंबा पद चौपाई और दोहे में लिखा है और पद के ऊपर सूर की भाँति ही 'सारंग' राग का नाम लिखा है। तात्पर्य यह है कि पद–रचना में परमानंददास की रचना सूरदास के चरण–चिन्हों पर ही हुई है।

परमानंददास जी की भाषा सूर की भाषा से इतनी मिलती है कि उनके पद सूर के पदों में मिल जाते है –

"सूर – ऊधौ अब कछु कही न जाय।
परमानंद – ऊधौ कछु नाहिन परत कही।"[1]

परमानंददास जी ने अपने पदों के विषय, पद–रचना, भाषा और अलंकारित सभी के लिए सूर के पदों को ही अपना आदर्श बनाया। उनके अधिकांश पद सूर के पदों के अनुसरण में रचे गये हैं। सूर की काव्य–प्रतिभा और परमानंददास जी की प्रतिभा का कोई साम्य नहीं है। इसीलिए सूर के पदों के अनुसरण पर रचना करने पर भी उनके पदों में वह सरसता और कलात्मकता न आ सकी जो सूर में थी।

कृष्णदास : अष्टछाप में चतुर्थ स्थान कृष्णदास जी का था। ये कलाप्रिय और रसिक थे। काव्य–प्रतिभा उनमें अधिक न थी। वे स्वभावतया उग्र और हठधर्मी थे, गोस्वामी विट्ठलनाथ तक का घोर अपमान उन्होंने कर दिया था। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वे सूरदास जी की प्रतियोगिता में पद–रचना करते थे। परिणाम यह हुआ कि उनकी कविता पर सूर की छाया तो पड़ती गई किंतु श्रद्धा भाव के अभाव के कारण

1. "सूर की काव्य–कला" – मनमोहन गौतम, पृ. सं. 336

छाया का सुप्रभाव कविता पर नहीं मिलता। विषय, पद–रचना, अलंकार–योजना और भाषा, प्रत्येक में सूर का असफल अनुकरण ही कृष्णदास में मिलता है।

गोविन्द स्वामी : अष्टछाप के पाँचवे कवि गोविन्द–स्वामी गोसाई विट्ठलनाथ के शिष्य थे। ये श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे, संगीत के आधार पर ही संभवतः उन्हें अष्टछाप में स्थान मिला था। श्रीनाथ जी की सेवा में पद–रचना करने के क्रम में संगीतज्ञ कवि गोविन्द स्वामी का सूर से प्रभावित होना स्वाभाविक है। सूर की पद–रचना, भाषा और अलंकार–विधान का अनुकरण इनकी कविता में प्राप्त होता है।

नन्ददास : अष्टछाप के षष्ठ कवि नन्ददास हैं। काव्य–कला और रचना–परिणाम की दृष्टि से सूर के पश्चात् इनको ही स्थान मिलता है। सूर की भाँति बृहत परिणाम में काव्य–रचना करना उनका उद्देश्य था। सूरसागर में से कृष्ण–लीला संबंधी अनेक संग्रह बन चुके थे, उन्हीं लीलाओं को लेकर नंददास जी ने छोटे–छोटे ग्रंथ बना डाले। विषय–निर्वाचित, पद्–रचना और अभिव्यंजना–कौशल सब में उन्होंने सूर का आधार ग्रहण किया है। सूर का प्रभाव उनमें व्यापक था।

छीतस्वामी और चतुर्भुजदास : ये अष्टछाप के सातवें और आठवें कवि हैं। इन्होंने कोई काव्य–ग्रंथ नहीं रचे, इन लोगों के कुछ स्फुट पद ही मिलते हैं। काव्य–कला की दृष्टि से भी इनके पदों का विशेष महत्व नहीं है। गायक होने के कारण कहीं–कहीं ध्वन्यात्मक शब्द–योजना का सौंदर्य मात्र इनमें हैं। जैसे –

"रतन जटित कनक थाल, मध्य सोहैं दीप माल,
अमरादिक चन्दन अति बहु सुगन्ध माई।
धननन धन धटा धोर, झननन झालार, झकोर,
तननन तन थेई–थेई, करत हैं एक दाई।
तननन तन तान पान, राम रंग स्वर बंधान,
गोपी जन गावैं गीत मंगल बधाई।
चतुर्भुज गिरिधर लाल आरती बनी विसाल,
बारत तन मन प्रान जसोदा नन्दराई।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि सूर ही अष्ट कवियों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रिय है, इसलिए सभी कवियों का उनका अनुकरण करना स्वाभाविक है।

तृतीय अध्याय
सूरदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

सूरदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

३.१. व्यक्तित्व :

३.१.१. नाम, जाति और वंश परिचय, माता-पिता, पारिवारिक जीवन, निवास स्थान

नाम :

हिन्दी साहित्य में पाँच नाम ऐसे मिलते हैं। जो सूरदास के ही नाम है। वे हैं – सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास और सूरश्याम। इनके अतिरिक्त 'सूर सुजान', 'सूरश्याम', 'सुजान' आदि नाम मिलते हैं।

डॉ. दीनदयालु गुप्त सब अभिधानों को सूर के ही नाम मानने के पक्ष में है। डॉ. मीतल सूरदास का मूल नाम साहित्य लहरी के आधार पर सूरजचंद मानते हैं। उनके अनुसार सूर इसी का लघु रूप है।

जाति और वंश परिचय :

सूरदास उच्च जाति के थे – सारस्वत ब्राह्मण थे – ऐसा अनुमान कर सकते हैं। एक पद की अन्तिम पंक्ति में उन्होंने लिखा है कि मैंने भगवान की भक्ति के लिए अपनी जाति को भी त्याग दिया है।

गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र यदुनाथजी तथा विट्ठलनाथ के सेवक श्रीनाथ भट्ट दोनों ने सूरदास को स्पष्ट रूप से ब्राह्मण लिखा है। ये सूरदास के समकालीन थे अतः इनके लेखों पर अधिक विश्वास किया जा सकता है।

सर जार्ज ग्रियर्सन, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, मुंशी देवी प्रसाद आदि सूरदास को चंदबरदाई का वंशज मानते हैं। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि सूर सारस्वत ब्राह्मण थे।

माता-पिता, पारिवारिक जीवन, निवास स्थान :

सूरदास के माता–पिता तथा सन्यास ग्रहण के पूर्व के उनके जीवन क्रम का कोई निश्चित विवरण नहीं मिलता। "चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार सूर का निवास

स्थान गौघाट है।"[1] यह स्थान आगरा–मथुरा सड़क पर है। भक्त विनोदकार मियासिंह यह श्रेय मथुरा को देना चाहते हैं। "श्री मुंशीराम शर्मा का कथन है कि सूर के पिता रामचन्द्र आगरा के निकट गोपाचल में रहते थे।"[2] सूर से बड़े तीन भाई और थे और इनके माता–पिता निर्धन थे।

बाल्य काल :

सूर के बाल्यकाल की जानकारी का एक मात्र साधन हरिराय कृत भाव प्रकाश है। इस ग्रंथ से जान पड़ता है कि सूरदास केवल छः वर्ष की अवस्था तक अपने पिता के साथ रहे। उसके बाद गृह त्याग किया और अपनी जन्मभूमि से आठ मील की दूरी पर स्थित एक ग्राम में 18 वर्ष की अवस्था तक रहे। भक्त विनोद के लेखक श्री मियासिंह ने लिखा है कि आठ वर्ष की अवस्था में सूर का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। इसके पश्चात् वे मथुरा गये और वहाँ कुछ समय रहकर बाद में मथुरा और आगरा के मध्यवर्ती गऊघाट नामक स्थान में यमुना नदी के तट पर रहने लगे।[3]

साधु संगति से सूर ने ज्ञान पाया और किसी भक्त से गान विद्या सीखी होगी। वल्लभाचार्य से भेंट होने के पहले भी वे काव्य रचना करते थे। उनको वाक् सिद्धि भी प्राप्त हुई थी। सूर की कृष्ण भक्ति ओर वाक् सिद्धि से प्रभावित होकर भी वल्लभाचार्य जी ने इन्हें अपने संप्रदाय में दीक्षित किया। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि साहित्य और संगीत दोनों में वे बाल्यकाल से ही निष्णात थे। उनकी औपचारिक शिक्षा–दीक्षा का कोई विवरण नहीं है।

३.१.२. अन्धा कवि :

सूरदास अन्धे थे – यह सब स्वीकार करते है किन्तु वे जन्मान्ध थे या नहीं – इसे लेकर काफी वाद–विवाद हुए हैं। कवि ने स्वयं अपने को अनेक स्थानों पर अन्धा कहा

---

1. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्र.स.सं 1985) वार्ता प्रसंग–1
2. सूर सौरभ – मुंशीराम शर्मा, पृ.सं. 16
3. 'सूर दर्शन' – कृष्णलाल हंस, पृ.सं. 32

है। "जन्म अन्ध दृग ज्योति विहीना" (मियां सिंह कृत भक्त विनोद) "जनमहि ते हैं नैन विहीनी" (रघुराज सिंह कृत राम रसिकावली)"[1] जैसे बाह्य साध्य से भी सूर की अंधता व्यक्त हो जाती है।

सूर को जन्मान्ध न मानने वाले लोग कहते हैं कि सूर जन्म से अन्धे नहीं थे, बाद में वे अन्धे हो गए। इसके प्रमाण भी मिलते हैं। चौरासी वैष्णव की वार्ता में प्रतिपादित है कि सूर ने चौपड़ खेलते हुए लोगों को देखा। रंगों हावभावों, जीवन तथा शरीर के सूक्ष्म व्यापारों का उनके काव्य में वर्णन है। जन्मांध के लिए इस प्रकार का वर्णन संभव नहीं।

सूर ने कई पदों में अपने को स्पष्ट रूप से जन्मान्ध कहा है। जन्मांध न होने पर क्यों वे अपने को जन्मांध कहे? सो भी अनेक बार सूर के समकालीन कवि श्रीनाथ भट्ट ने स्पष्ट रूप से उन्हें जन्मान्ध कहा है – "जन्मोन्धो सूरदाऽसोभूत"[2] अन्य समकालीन कवि प्राणनाथ ने भी सूर की जन्मांधता की ओर संकेत किया है।

केवल काव्य में वर्णित विषयों और वस्तुओं के आधार पर सूर को जन्मान्ध नहीं मानना तर्क संगत नहीं है। कवि प्रज्ञाचक्षु होते हैं। वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान ही काव्य नहीं है। उसके लिए प्रातिभज्ञान (इन्ट्रिटीव नोशेज) ही अधिक आवश्यकता है। वही काव्य की जनयित्री है। सूर में प्रातिभज्ञान उन्होंने अत्युच्च कोटि का वर्तमान था। उसके आधार पर उन्होंने जगत के पदार्थों का सूक्ष्म वर्णन किया है। प्रातिभ ज्ञान की असाधारण शक्ति का समर्थन आधुनिक विचारक भी स्वीकार करते हैं।

---

1. सूरदास की वार्ता : संपादक – प्रेमनारायण टंडन, पृ.सं. 25
   "सूरसागर और कृष्णगाथा – एक अध्ययन" – डॉ. चेरियान जार्ज, पृ.सं. 113 से उद्धृत।
2. श्रीनाथ भट्ट – संस्कृत मणिमाला – श्लोक–1
   (सूरदास की वार्ता–संग्रह), प्रेमनारायण टंडन–पृ.सं. 25 से उद्धृत।

३.१.३. शिक्षा-दीक्षा और ज्ञान, श्री वल्लभाचार्य से साक्षात्कार

शिक्षा दीक्षा और ज्ञान :

सूरदास का काव्य उनकी उच्च शिक्षा, विस्तृत अनुभव, लौकिक विषयों के गंभीर और सूक्ष्म ज्ञान तथा गंभीर आध्यात्मिक चिंतन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। काव्य और संगीत दोनों में वे असाधारण रूप से व्युत्पन्न थे। काव्य के विषय में ऐसी कौन सी बात है, जो 'सूरसागर' में न मिल सके? वस्तुतः 'सूरसागर' हमारे साहित्य की सबसे प्रौढ़ रचना है।

सूर की आरंभिक शिक्षा के बारे में कोई बात ज्ञात नहीं है। चौरासी वैष्णव की वार्ता में यह उल्लेख है कि जिस समय सूरदास अपने गाँव से चार कोस दूर के एक स्थान पर रहते थे, वहाँ वे पद बनाते थे, और गान–विद्या का सब साज उन्होंने इकट्ठा कर लिया था।

वल्लभ से साक्षात्कार :

सूर के जीवन वृत में सबसे महत्वपूर्ण घटना उनका महाप्रभु वल्लभाचार्य से साक्षात्कार होना है। यह घटना सन् 1510 ई. के आसपास की है। बचपन से सूर सांसारिक माया मोह से विरक्त थे। गृहत्याग उन्होंने पहले ही किया था। आध्यात्मिक जीवन की ओर उनकी प्रवृत्ति प्रबल हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में ही महाप्रभु वल्लभाचार्य से उनका साक्षात्कार हुआ। महाप्रभु ने सूरदास को श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवल्लीला सुनाई। आचार्य के शिष्यत्व ग्रहण करने के पश्चात् सूर ने श्रीनाथ मन्दिर में कीर्तन सेवा का कार्य करते हुए अपना शेष जीवन बिताया। "हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में महाप्रभु के संसर्ग में आने के बाद सूरदास ने अपना पुराना रास्ता छोड़ दिया और अपने गानों का मुख्य विषय भागवत लीला को ही बना लिया।"[1]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी – सूर साहित्य (1973), पृ.सं. 148

३.१.४. जीवन की प्रमुख अन्य घटनायें :

श्रीनाथ जी का कीर्तन करते हुए सूर ने सहस्रों पद बनाये। उनकी प्रसिद्ध सर्वत्र फैल गई। तत्कालीन भारत सम्राट अकबर ने भेंट की इच्छा प्रकट की। अकबर से सूर की भेंट दिल्ली या मथुरा में हुई। भेंट का समय दीनदयालु गुप्त सं. 1636 और नंददुलारे बाजपेई सं. 1623 और सं. 1628 के बीच मानते हैं। भेंट के समय अकबर ने सूरदास से अपना यशोगान सुनना चाहा तब सूर ने 'मना तू करि माघो सौं प्रीति' गाया। अकबर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला कि परमेश्वर ने इतना बड़ा राज्य दिया है, सब मेरा यश गाते हैं, तुम भी कुछ गाओ। तब सूरदास ने निम्न लिखित पद गाकर सम्राट को स्पष्ट रूप से बतला दिया कि कृष्ण को छोडकर न किसी के लिए हृदय में स्थान है और न किसी के यश का गान करना ही उन के लिए संभव हैं –

"नाहिन रहयों मन में ठौर
नंद नंदन अछत कैसे आनिए उन और।"

बाबा बेनी माधवदास रचित मूल गोसाई चरित से 1616 वि. में सूरदास की गोस्वामी तुलसीदास से भी, विट्ठलनाथ जी के साथ जगन्नाथपुरि जाते समय मार्ग में कामतानाथ पर्वत पर भेंट होना ज्ञात होता है। बाबा बेनी माधवदास ने इसका वर्णन किया है।"[1]

"सोलह सो सोल्ह लगे कामद गिरि ढिंग वास।
शुचि एकांत प्रदेश मंह आये सूर सुदास।।
(मूल गोसाई चरित)

दो महान प्रतिभाओं का यह महान संगम अवश्य अत्यंत दिव्य ही रहा होगा। भक्ति के दो प्रमुख स्तम्भों का यह परस्पर मिलन अनेक दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्व का होता है। यद्यपि तुलसी प्रमुख रूप से राम भक्त थे फिर भी कृष्ण के प्रति भी उनकी आस्था

---

1. नन्ददुलारे वाजपेई – महाकवि सूरदास, पृ. 103 से उद्दृत।

कम नहीं थी। वे बड़े समन्वयवादी थे, भक्ति तथा दर्शन दोनों क्षेत्रों में। सूर की कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ भक्ति संभवतः इसमें प्रेरक रही होगी।

"महाप्रभु वल्लभाचार्य की दृष्टि में सूर भक्ति के सागर हैं और विट्ठलनाथ जी के सम्मति में, पुष्टिमार्ग के जहाज। उनका सूर सागर काव्यामृत का असीम सागर है। वे महात्यागी, अनुपम विरागी और परम प्रेमी भक्त थे। भगवान की लीला का गुणगान ही उसकी अपार, अचल और अक्षुण्ण सम्पत्ति थी।"[1]

सूरदास ने आजीवन श्री गोवर्द्धननाथ जी के चरणों में बैठकर ब्रजभाषा काव्य के रूप में जो भागीरथी बहाई उसका वेग आज भी विशेष क्षीण नहीं हुआ।

मृत्यु

सूरदास दीर्घायु पर्यन्त जीवित थे। "डॉ. मुंशीराम शर्मा इनका निधन काल सं. 1628 मानते हैं।"[2] किंतु सं. 1638 तक उनका उपस्थित रहना अंतः साक्ष्य एवं अहिः साक्ष्य से प्रमाणित होता है। "गोस्वामी विट्टलनाथ का निधन काल सं. 1642 निश्चित है।"[3] अतएव सं. 1638 और सं. 1642 के बीच में सूरदास का गोलोकवास हुआ होगा, यह स्पष्ट है। इस स्थिति में सं. 1640 को इनका निधन काल मानने में कोई आपत्ति नहीं।

---

1. डॉ. रामचरण लाल शर्मा – हिन्दी साहित्य में अष्टछापी और राधा वल्लभीय काव्य, पृ.सं. 36
2. सूर सौरभ (चतुर्थ सं.) – पृ. 154 (सूरसागर और कृष्णगाथा – एक अध्ययन – डॉ. चेरियान जार्ज, पृ.सं. 111) से उद्धृत
3. डॉ. दीनदयालु गुप्त – अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय – भाग–1 (द्वि.सं.) –पृ.70 (सूर सागर और कृष्णगाथा – डॉ. चेरियन, पृ. 111 से उद्धृत

३.२. कृतित्व :

सृजन के लिए जैसे उन्मुक्त व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है, वैसा सूर को मिला था। वे अत्यन्त केन्द्रित, समर्पित और गतिशील थे। 'सूर' की साहित्य साधना भाव–विकास की दृष्टि से उत्कट और परिणाम की दृष्टि से विस्तृत होती गई। उन्हें बाह्य परिस्थितियों के कारण भी भाव–विकास करना पड़ा : हीनताजन्य दैन्य – वल्लभोक्त वात्सल्य–साधनात्मक मधुराभक्ति – विट्ठलोक्त श्रृंगार–सेवाः–इस प्रकार साधना के आयासों को नवीन उत्तेजना मिलती गई। किसी स्थिति में सूर ने स्थैर्य या बासीपन का अनुभव नहीं किया। साधना में नवीनता और ताजगी बनी रही। **साहित्य –साधना के इस पूर्ण समर्पित रूप ने हमको जो दिया, वह किसी भी देश या युग के लिए गर्व की वस्तु हो सकती है।** सूर की दृष्टिहीनता के कारण बहुत कुछ लिपिबद्ध न हो सका; बहुत कुछ संगृहीत न हो सकाः बहुत कुछ सांप्रदायिक दृष्टि से काट कर अलग कर लियाः बहुत कुछ अभी भी कहीं बंद पड़ा है।

रचना तालिका :

सूरदास के नाम से कई रचनाएँ प्रचलित हैं। इनमें से कुछ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित। उनकी 25 कृतियाँ बतलाई जाती हैं। उनकी सूची इस प्रकार है : "1. सूर सारावली, 2. साहित्य लहरी, 3. सूरसागर, 4. भागवत भाषा, 5. दशम स्कंध भाषा, 6. सूरसागर सार, 7. सूर रामायण, 8. मानलीला, 9. राधा रसकेलि कौतूहल, 10. गोवर्धनलीला, 11. दानलीला, 12. भँवरगीत, 13. नागलीला, 14. ब्याहलो, 15. प्राणप्यारी, 16. दृष्टिकूट के पद, 17. सूर शतक, 18. सूर–साठी, 19. सूर पच्चीसी, 20. सेवाफल, 21. विनय के पद, 22. हरिवंश टीका (संस्कृत), 23. एकादशी माहात्म्य, 24. नल दमयंती, 25. रामजन्म।

इनमें से अंतिम चार (22–25) अप्रामाणिक मानी जाती हैं।[1]

इनमें से 'सूरसागर' सर्वस्वीकृत प्रामाणिक रचना है। अतः इसके अंशभूत अन्य संग्रह जो उक्त सूची में सम्मिलित हैं, स्वतः प्रामाणिक सिद्ध हो जाते हैं। सूरसागर से संग्रहीत पद–संकलन ये है : भागवत भाषा, दशम स्कंध भाषा, सूरसागर सार, सूर रामायण, मानलीला, राधारस केलि कौतूहल, गोवर्धन लीला (सरसलीला), दानलीला, भँवरगीत, नागलीला, ब्याहलो, प्राणप्यारी, दृष्टिकूट पद और सूरशतक, सूरसागर के ही अंश–संस्करण हैं। सूर सारावली और साहित्य लहरी को मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. प्रभुदयाल मीतल तथा डॉ. बेनीप्रसाद प्रामाणिक मानते है। केवल डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने इन्हें सूर–कृत नहीं माना है। इन तीन ग्रंथों के अतिरिक्त चार और स्वतंत्र रचनाएँ प्रामाणिक रूप से सूर कृत है : सूरसाठी, सूर पचीसी, सेवाफल और सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद। सूर के यश का प्रमुख स्तंभ 'सूरसागर' है। साहित्य–लहरी काव्यमय और शैली की दृष्टि से अपना स्थान रखती है। 'सूर सारावली' का महत्व सूर के सैद्धान्तिक पक्ष और सांप्रदायिक परिवेश को स्पष्ट करने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। शेष चार रचनाएँ छोटी हैं। इस प्रकार सूर की सात प्रामाणिक रचनाएँ हुईं।

सूर की उक्त प्रामाणिक रचनाओं को संदर्भ की दृष्टि से तीन भागों में रखा जा सकता है : स्वान्तः सुखाय कृतियाँ, दूसरों के लिए लिखी कृतियाँ तथा संप्रदाय के लिए प्रस्तुत रचना। 'सूर' का व्यक्तित्व दूसरों के प्रति उदासीन नहीं था। दूसरों के प्रति सहानुभूति, उनकी जिज्ञासा और आतुरता ने भी 'सूर को कुछ करने के लिए उत्तेजित किया। दूसरों के लिए जो साहित्य–रचना की गई, उसमें चेतावनी–पूर्ण रचनाओं में, 'सूरपचीसी', 'सूरसाठी' आती हैं। 'साहित्यलहरी' काव्य पद्धति से भक्ति रसोद्बोध केलिए रची गई। 'सूरसारावली' और 'सेवाफल' सांप्रदायिक दृष्टि के स्पष्टीकरण और उसकी प्रतिष्ठा के लिए लिखी गई है।

---

1. डॉ. दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप ओर वल्लभ संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ. 298 तथा पारीख–मीतल, 'सूरनिर्णय', पृ. 105।

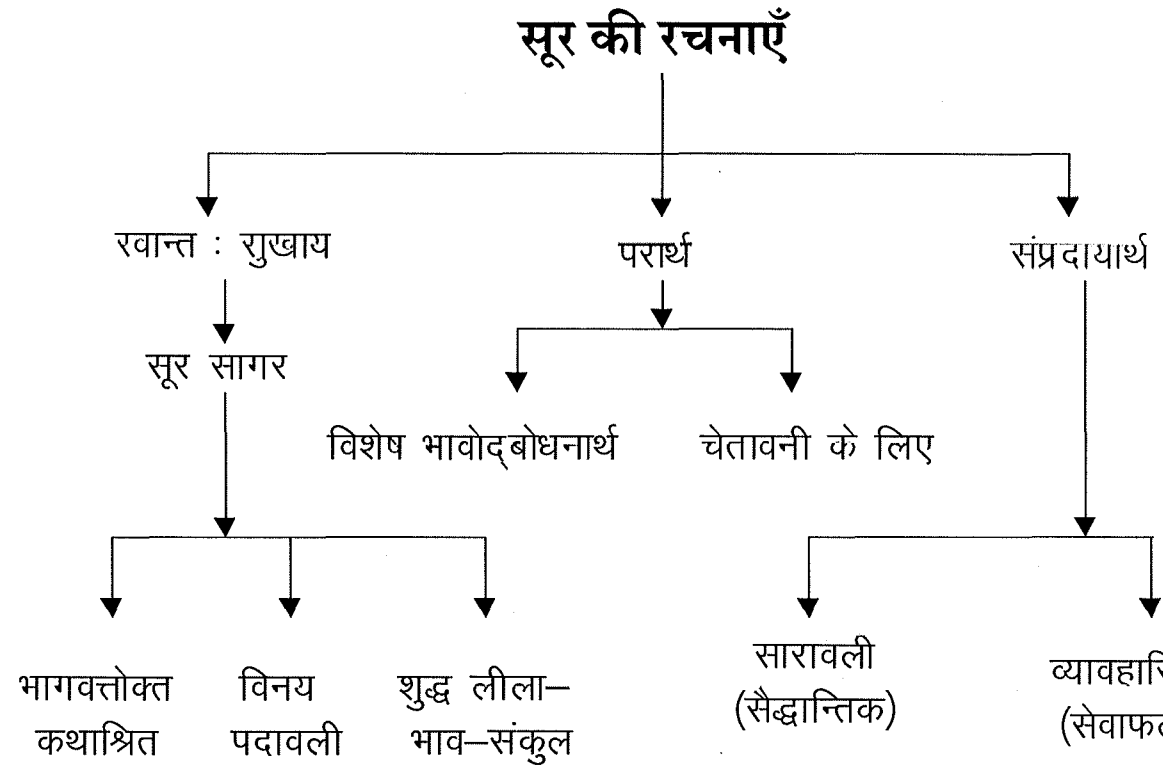

३.२.१. सूर सारावली :

सूरसागर की कुछ मुद्रित प्रतियों के आरंभ में यह ग्रंथ संग्रहित है। इसमें 1107 तुकें हैं। इसके संबंध में यह मान्यता रही है कि इसमें 'सूर सागर' का सार दिया गया है अथवा सूर के सवालाख पदों का यह सूचीपत्र है। इसमें स्वयं इस प्रकार का संकेत है :

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ, लीला–भेद बतायौ।
ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।
ताकौ सार 'सूर' सारावलि गावत अति आनंद।[1]

"डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने इस ग्रंथ को अप्रामाणिक माना है। सूरसागर और उन्होंने सारावलि के बीच 27 अंतर दिखलाए हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि 'सारावलि' सूरसागर के पदों का सूचीपत्र नहीं है। यह एक स्वतंत्र रचना है, जिसकी कथावस्तु में सूरसागर की कथावस्तु से घनिष्ट साम्य होते हुए भी उसे निश्चित सूरसागर का संक्षेप नहीं कह सकते।"[2]

---

1. सूर सारावलि, तुक 1103
2. सूरदास, पृ. 83. (सूर साहित्य–नवमूल्यांकन, डॉ. चन्द्रभान रावत)

सारावली की सूचना के अनुसार इसकी रचना कवि ने 67 वर्ष की आयु में की थी। जो लीला–रहस्य, शिव केलिए भी अप्राप्य था, उसका साक्षात्कार कवि ने गुरुकृपा से 67 वर्ष की अवस्था में किया। यदि जन्म संवत् की दृष्टि से 67 वर्ष अवस्था देखी जाय, तो इसका रचना काल सं. 1602 वि. ठहरता है। "मीतल जी ने विषय वस्तु के साम्प्रदायिक विकास की दृष्टि से इसी रचना काल को उचित कहा है।"[1]

इसकी विषयवस्तु को भी कवि ने स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि "आरंभ में मैंने कर्म–योग और ज्ञान–योग के मार्गों को अपनाया और भ्रमित होता रहा; अन्ततः श्रीवल्लभाचार्य जी ने लीला–रहस्य का उद्घाटन किया और मैंने भगवान की लीलाओं का गायन आरंभ कर दिया।[2] इससे प्रकट होता है कि सूर ने भगवान की दिव्य लीलाओं का तात्विक स्वरूप इसमें स्पष्ट किया है। लीलाओं का सांप्रदायिक दृष्टि से तत्व निरूपण ही कवि की इस रचना में अभीष्ट है। वार्ता–साहित्य के साक्ष से प्रतीत होता है कि शराणागति के समय महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने 'दशम स्कंध की अनुक्रमणिका' और 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' सुनाया था। इसी प्रारंभिक ज्ञान के आधार पर सूर को श्री वल्लभकृत 'सुबोधिनी' का बोध हुआ था।

श्रीमद्भागवत की लीलाओं का कथासत्रावलंबी भाव–विस्तार सूरसागर में किया गया है और उसी का सरल भाषा में तत्वाख्यान 'सारावली' में। 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' वास्तव में श्रीमद्भागवत का 'सार समुच्चय' ही है। 'सारावली' में कथासूत्र और भाव–विस्तार की ओर कवि का इतना ध्यान नहीं है, जितना तत्व के स्पष्टीकरण की ओर। उसके सिद्धान्तात्मक सर्गादि दशविध लीलाओं के सार–तत्व रूप से, सारावली नाम दिया है। 'सार' का तात्पर्य संक्षिप्ति या सूची नहीं है। इसका अर्थ है सिद्धान्त का सार या तत्व।

1. सूर निर्णय, पृ. 109
2. कथा–योग पुनि ग्यान उपासन सब ही भ्रम भरमायौ।
   श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला–भेद बतायौ।।
   सूर सारावलि, तुक. 1107

'सूरसागर' यदि कीर्तन–काव्य है, तो सारावलि सिद्धान्त काव्य। महाप्रभु जी ने दशधा लीलाओं का समग्र तत्व 'सूर' के अंतःकरण में प्रतिष्ठित कर दिया था। इसी के फलस्वरूप 'सूर' स्वयं सागर बने थे। इसी सागर के तात्विक रत्नों का आकलन 'सारावली' में हैं। 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' और 'सारावली' के अनुक्रम और विवेचन में पूर्ण साम्य है।

सारावली के विषय का दूसरा विभाग भी है – 'सरस संवत्सर लीला'। "डॉ. मुंशीराम शर्मा ने 'सरस' नामक संवत्सर की कल्पना की है।"[1] वास्तव में इसका अर्थ है 'संवत्सर की सरल लीला। वर्ष भर की दान–मानादि रसात्मक लीलाओं का निरूपण 'सारावली' में हुआ है। रसात्मक श्रीकृष्ण ने शुद्ध आनंदमयी लीलाएँ ब्रज में की थी। इन शुद्ध आनंदमयी लीलाओं की स्थिति ब्रज में हैं। ये लीलाएँ भौतिक नहीं, शुद्ध भावमय हैं। इन्हीं लीलाओं का गायन पद्म, वाराह आदि पुराणों, श्रीमद्भागवत्, गर्ग संहिता, नारद पांचरात्र आदि में हुआ है। पुष्टिमार्गीय सेवा–विधान में भी इनका महत्वपूर्ण स्थान है। सूरदास जी ने रसात्मक कृष्ण की नित्य और वर्षोत्सव की भावनाओं से आपन्न लीलाओं का क्रमबद्ध वर्णन 'सारावली' में किया है।

'सारावली' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि इसमें सूर के व्यक्तित्व का बौद्धिक पक्ष ही विशेष सजग है। वल्लभाचार्य जी ने सूर के व्यक्तित्व का बौद्धिक परिष्कार भी किया था और भावात्मक उन्नयन भी। बौद्धिक दृष्टि से सूर को संप्रदाय सिद्धांत और सेवा विधियों का यथार्थ ज्ञान कराया गया। आचार्य जी के पश्चात् यही एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने उनके श्रीमुख से संप्रदाय के रहस्यों को सुना था और सभी का मर्मस्पर्श किया था।

आचार्य जी के व्यावहारिक जीवन को जितने समीप से सूरदास जी ने देखा था, उतने समीप से संभवतः किसी ने नहीं देखा था। संप्रदाय के सिद्धांतों की उलझनों को

---

1. सूर सौरभ, द्वितीय भाग, पृ. 33

सूर, बिना लिखित प्रमाण और ज्ञान के अत्यन्त सरलता से सुलझा देते थे। इस दृष्टि से उन्होंने एक रचना ऐसी करना उचित समझा जो संप्रदाय के तत्वों का निरूपण कर सके। स्पष्टः इसके दो विभाग प्रतीत होते हैं : विशुद्ध सैद्धान्तिक और वर्षोत्सवों की व्यावहारिक सेवा विधियों से संबंधित।

इस रचना से 'सूर' को सांप्रदायिक–दायित्व से मुक्त किया। इस दायित्व को पूर्ण करना सूर के लिए इसलिए भी आवश्यक हो गया कि उन्हें भाव–साधना के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सके। सांप्रदायिक सिद्धांतों का ज्ञान उनके लिए गर्व की वस्तु भी बन सकती थी, पर सूर की दृष्टि विशुद्ध भावात्मक थी। उन्हें लीलासक्ति का ही विस्तार करना अभीष्ट था। उसके लिए व्यावहारिक या लौकिक जीवन से वे संदर्भ चुनने थे जो लीलासक्ति को सैद्धान्तिक जड़ता से मुक्त करके समग्र अभिव्यक्ति को सजीव कर सके। अतः 'सारावली' की रचना करके वे सांप्रदायिक दायित्व से मुक्त हो गए – एक बद्धता को समाप्त किया। इससे उन्हें अपनी निजी साधन के लिए अपेक्षित स्वच्छन्दता मिल सकी।

३.२.२. साहित्य लहरी (रचनाकाल - सं. १६०७-१६२७ के बीच कहीं)

इसमें 118 दृष्टकूट पदों का संग्रह हैं। "डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने इस कृति को सूरकृत नहीं माना है।"[1] अधिकांश विद्वानों ने इसे सूर की प्रामाणिक रचना के रूप में स्वीकृत किया है।

डॉ. वर्मा का दूसरा तर्क साहित्य–लहरी की शैली और भावना को लेकर है।

संप्रदाय में रसेश्वर कृष्ण की प्रतिष्ठा थी। श्रुति ने भी उसे 'रसो बै सः' कहा और भगवान की रसात्मक लीला–भावना और कल्पना के लिए द्वार उन्मुक्त कर दिया। बाह्य जगत में जहाँ–जहाँ रस–कणों की स्थिति है, वह भगवान के रस की ही छाया

1. सूर सौरभ, पृ. 87, 93.

है। अष्टछाप के कवियों में भी इसी भावना का अवतरण हुआ था। इस प्रकार लौकिक रस–रूप भी प्रच्छन्न रूप से अलौकिक संबंध रखता है। "श्रीमद्भागवत में रास पंचाध्यायी के अंतिम अध्याय में यही बात कही गई है कि –

एवं शशाङ्कांशु बिराजता निशाः ससत्यकामोऽनृरताबला गणः।
सिषेव आत्मन्युपरुद्धसौरत सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः॥

इस कथन से ध्वनित होता है कि काव्य–रस की पद्धति से भी भगवान कृष्ण ने लीला विस्तार किया था। इसका स्पष्टीकरण महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने किया : काव्योक्त रीति या 'गीति गोविन्द' की पद्धति से भी भगवान ने रमण किया।[1] भागवत और भक्ति–आचार्यों के ऐसे संकेतों को पाकर ही भक्ति–रस की काव्यशास्त्रीय व्याख्या का सूत्रपात हुआ।

वृन्दावन के, और बंगाल के सभी राधावादी संप्रदाय में स्त्रीभाव की मान्यता थी। इसी भावना से भक्त कृष्ण की रूप–श्रृंगार लीलाओं में प्रविष्ट होता है। शुद्ध भक्तिरस यहाँ उमड़ पड़ता है। इसके साथ लौकिक काव्यरस भी संयुक्त या अंगभूत रह सकते हैं। इनसे भक्तिरस बलवत्तर और तीव्रतर होता है। इसी काव्योक्त पद्धति में नायिका भेद का प्रवेश हो जाता है। विविध नायिकाओं के रूप में भावित होकर गोपीजन कृष्ण–संभोग का रसास्वादन करती हैं। 'साहित्य–लहरी' इसी नायिका भेद के आश्रय से मधुर लीलाओं के कथन और आस्वादन की पद्धति को लेकर चली है। इस रचना में श्रीकृष्ण के नायिकाभेद की पद्धति से भक्तिरसास्वादन का स्वरूप स्पष्ट किया है। समस्त नायक–नायिका भेद को कृष्ण, राधा एवं गोपियों पर घटित करने का यह प्रथम शास्त्रीय प्रयास माना जा सकता है।

---

1. सुबोधिनी, तृ. स्कं. 15–39 (सूर निर्णय, द्वारकादास परीख, प्रभुदयाल मीतल, पृ.सं. 147)

सूरदास ने 'साहित्य लहरी' में भक्ति के तत्वों का समन्वय किया। इसी पद्धति पर आगे चलकर नन्ददास ने 'रसमंजरी' की रचना की।

३.२.३. सूरसागर :

मध्यकालीन वैष्णव भक्ति–साधना में सूर शीर्षस्थ हैं। उन्होंने ब्रज प्रदेश की जनभाषा 'ब्रजभाषा' को ग्रामीण अंचल तक सीमित न रखकर उसे व्यापक धरातल पर ला खड़ा किया और श्रृंगार एवं माधुर्य से मंडित कर जनमानस को विमुग्ध करने वाले अमर काव्य 'सूरसागर' की रचना की।

'वार्ता साहित्य' में उल्लिखित संदर्भों से यह ज्ञात होता है कि सूरदास जी के जीवनकाल में ही उनके पदों को संग्रहीत किया जाने लगा था। किन्तु आज तक उनका कोई समसामयिक संग्रह उपलब्ध नहीं हुआ। 19वीं शती में क्रमशः आगरा, मथुरा, दिल्ली, जयपुर, बम्बई, लखनऊ और काशी से 'सूरसागर' की प्रतियां प्रकाशित हुई जिनमें से कुछ पूर्ण और कुछ अपूर्ण थी। साथ ही, कुछ संक्षिप्त संग्रहों का प्रकाशन भी हुआ। 'सूर सागर' की सभी प्रतियाँ संग्रहात्मक अथवा द्वादशात्मक पद्धति पर तैयार की गई।

'सूरसागर' में पदों का संग्रह श्रीमद्भागवत क्रम पर किया गया है। उसी के समान ही यह द्वादश स्कंधों में विभाजित है किंतु दश्म स्कंध के पूर्वार्द्ध को छोडकर अन्य स्कंध अत्यंत संक्षिप्त है। यह सूरदास के गाए हुए पदों का संकलन मात्र है जिसका क्रमबंधन श्रीमद्भागवत् के अनुसार हुआ है।

'सूरसागर' में श्रीमद्भागवत् की कथा का आद्यन्त वर्णन हुआ है किंतु 'दशमस्कंध' के अंतर्गत श्रीकृष्ण की लीलाओं का विस्तार से वर्णन मिलता है।

'सूरसागर' के पदों की संख्या यद्यपि सवा लाख बताई जाती है तथापि प्रकाशित संस्करणों में से किसी भी संग्रह में पदों की संख्या चार–पाँच हज़ार से अधिक नहीं

मिलती। सूर ने प्रथम स्कंध में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यह कथा उन्होंने व्यास के मुँह से सुनी। इस स्कन्ध में संपूर्ण सृष्टि, ब्रह्मा, रूद्र, सप्तर्षि, सुर–असुर उत्पत्ति, वराह अवतार, जय–विजय और स्वयंभू मनु जन्म की कथा वर्णित है। कविवर सूरदास ने चतुर्विधि भक्ति को प्रधानता देते हुए हरिविमुखों की निन्दा की है।

चतुर्थ स्कन्ध में यज्ञ पुरुष अवतार के अंतर्गत दक्ष सुता सती के जन्म–मरण के वर्णन के साथ–साथ वीरभद्र द्वारा दक्ष का सिर काट कर हवन–कुंड में डाले जाने और हिमालय की पुत्री पार्वती का शिव के साथ विवाह होने का वर्णन है। पंचम स्कन्ध में ऋषभदेव जड़ भरत की कथा संक्षेप में है।

षष्ठ स्कन्ध में परीक्षित शुक संवाद में गुरु महिमा, नहुष कथा, सदाचार शिक्षा तथा इन्द्र और अहिल्या की कथा दी गयी है। सप्तम स्कन्ध में नृसिंहावतार, ध्रुव कथा, निर्गुण, वर्णन, ईश्वर संकल्प तथा नारद उत्पत्ति का वर्णन है। नवम स्कन्ध में पुरुरवा का वैराग्य और देवयानी की कथा का उल्लेख है। इन दोनों कथाओं के मध्य भाग में रामायण की पूरी कथा वर्णित है जिसका विभाजन विविध खंडों में हुआ है।

सूरसागर के दशम स्कन्ध में कविवर सूरदास ने अपनी मौलिक सूझ–बूझ से कृष्ण की लीलाओं का भावात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है। सूर का मुख्य प्रतिपाद्य कृष्ण की लीलाओं का गायन रहा है और सूर ने इसका सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, 'सूरसागर' के नवम् स्कन्ध में संपूर्ण रामकथा 158 पक्षों में है। सूर ने राम को लोकरक्षक रूप में प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने श्री विष्णु, हरि और राम को कहीं भी कृष्ण से भिन्न नहीं माना है। निर्गुण ब्रह्म के ये सगुण नाम कृष्ण के ही नाम है। रामकथा लिखने का आशय है राम और कृष्ण को अभेद रूप में स्वीकार करना। राधा कृष्ण की शक्तिरूपा है। अतः कवि ने उन्हें शेष, महेश, शंभु, नारद आदि की स्वामिनी कहा है।

वस्तुतः 'सूरसागर' की रचना करके सूरदास जी ने ब्रह्मानन्द की साक्षात् अनुभूति की है। कृष्ण एवं राधा तथा गोपियों का अनुराग सर्वोच्च एवं शाश्वत है। सूर ने प्रेम को लौकिक और अलौकिक धरातल पर साथ–साथ प्रस्तुत करके गरिमा प्राप्त की है, अतः सूर को मानवेतर अथवा ईश्वरीय श्रृंगार का कवि कहना अधिक उचित है।

सूरदास जी ने हरि लीला विषयक पदों की रचना प्रभूत मात्रा में की है। महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के पश्चात् वे हरि लीला गायन में ही लगे रहे। ये पद ही वस्तुतः सूरसागर की निधि हैं। सहस्रों की संख्या में निर्मित इन पदों को देखकर आचार्य ने सूरदास जी को 'सागर' और गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उन्हें 'पुष्टिमार्ग का जहाज' कहा है।

'सूरसागर' भक्ति रूपी मणियों की खान है जिसके रत्नों को पाने के लिए भक्त को मरजीवा बनने की आवश्यकता है।

३.३. सूर की काव्य-कला का मूल्यांकन :

३.३.१. सूर से पूर्व काव्य-कला की स्थिति :

सूर से पूर्व हिन्दी–काव्य–कला की स्थिति समृद्ध नहीं कही जा सकती। उस समय तक सिद्धों के पद, चारणों की वीरगाथाएँ तथा वीरगीत ओर कबीर आदि सन्तों की बानियाँ ही हिन्दी साहित्य में प्राप्त होती है। वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी साधुओं की कृतियों में नीतिपरक पद–रचना मिलती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सरहपा, शवरपा, लुइपा और कन्हपा आदि सिद्धों की पद–रचना, हिन्दी मुक्त गीतों का पूर्व रूप अवश्य है किंतु इन कवियों का दृष्टिकोण कलात्मक था ही नहीं। इन सिद्धों को तो वैराग्य, उपदेश और नीति आदि के कथन प्रस्तुत करने थे। इसीलिए इनके पदों में सरस पदावली और उक्ति–वैलक्षण्य का प्रायः अभाव ही मिलता है।

चारणों की वीर–गाथाओं में चरित–काव्य की प्रधानता है। कलात्मक दृष्टिकोण पृथ्वीराज रासों के कतिपय छंदों में अवश्य मिलता है किंतु रासो की प्रामाणिकता के संबंध में अभी तक संदेह बना हुआ है। कहा नहीं जा सकता, उसके सरस पद सूर से पूर्व रचे गये थे या नहीं। चारण–काल की अन्य गाथाओं तथा वीर गीतों में कला के दर्शन नहीं होते।

गोरख, नामदेव ओर कबीर की संतबानियों में हठयोग, उपदेश, मत–मतान्तर ओर नीति–कथन का इतना आधिक्य है कि उनमें काव्य–शिल्प की कल्पना करना ही व्यर्थ है। रमते जोगी अटपटी वानी के व्यवहार में ही अपना चमत्कार दिखाना चाहते थे, रमणीय अभिव्यंजना का उनकी मनोवृत्ति से मेल ही नहीं मिलता था। इन संतों ने प्राकृत और अपभ्रंश में चलती हुई मौखिक गीत–पद्धति में ही अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इनकी पद–रचना के स्वरूप मात्र को ही सूर ने ग्रहण किया और उसका संस्कार करके हिन्दी को एक अपूर्व काव्य–रूप प्रदान किया। इस प्रकार काव्य–कला के क्षेत्र में पद–रचना के रूप–विधान को छोड़कर सूर को अपने पूर्ववर्ती संत कवियों से उत्तराधिकार में और कुछ भी नहीं मिला।

सूर के पूर्व हिन्दी में केवल एक ही कलाकार कवि हुए थे – विद्यापति। विद्यापति की पद–शैली, कोमलकान्त–पदावली और अलंकृत उक्तियाँ काव्य–कला की अमूल्य निधियाँ है किंतु सूर–प्रणीत हिन्दी–पद–रचना का स्वरूप विद्यापति की पदावली से सर्वथा भिन्न है। सूर ने संतों की जिस पद–रचना का विकास किया उसका विद्यापति की पद–शैली से कोई संबंध नहीं है। अभिव्यंजना–कौशल में सूर ने विद्यापति से अप्रत्यक्ष प्रभाव कदाचित् ग्रहण किया था किन्तु सूर की काव्य–धारा के स्त्रोत का विद्यापति से विशेष संबंध नहीं है। संभवतः इसका कारण यह है कि उस काल में विद्यापति का संबंध बंगला–काव्य से ही अधिक था।

तात्पर्य यह कि सूर से पूर्व हिन्दी–काव्य–कला बड़ी अविकसित अवस्था में थी। भाषा, छंद, पद–योजना और अभिव्यंजना कौशल किसी भी दृष्टि से उसका कोई स्थिर स्वरूप नहीं बन पाया था। डिंगल, पिंगल, मैथिली और सधुक्कड़ी भाषा की गलियों में धक्के खाती हुई हिन्दी कविता किसी प्रतिभाशाली युग–प्रवर्तक कवि की बाट जोह रही थी। इसी समय महाप्रभु वल्लभाचार्य के कृपा–सूत्र का सहारा लेकर 'आँख का अंधा और गाँठ का पूरा' सूर हिन्दी काव्य–मंच पर आकर उपस्थित हो गया।

३.३.२. हिन्दी-काव्य-कला को सूर की देन :

भाषा के स्थिर रूप के बिना न तो काव्य के भाव–पक्ष की उन्नति होती है और न काव्य–कला का स्वरूप ही निखरता है। सूर की सबसे महान सिद्धि यह है कि उन्होंने पिंगल साहित्य में प्राप्त अव्यवस्थित ब्रज–भाषा का संस्कार किया। उन्होंने अपने इष्टदेव की क्रीड़ा–भूमि की भाषा को काव्य–भाषा के रूप में परिमार्जित किया। ब्रज–भाषा के प्रथम कलाकार कवि होकर भी उन्होंने प्रभूत मात्रा में काव्य–सृजन किया है। ब्रज भाषा के व्यापक रूपों में से किस प्रकार काव्योपयुक्त रूपों को ही उन्होंने ग्रहण किया है।

सूर ने लोक–प्रचलित ब्रज–भाषा के रूपों को इस प्रकार ग्रहण किया है कि उसका ग्राम्यत्व नष्ट हो गया है और भाषा की स्वाभाविकता की रक्षा भी हो सकी है। साथ ही उन्होंने शिष्ट और साहित्यिक भाषाओं के गुणों का भी संचयन कर अपनी भाषा को समृद्ध किया है। ऐसा करने से भाषा की श्रीवृद्धि हुई है और अर्थ–संपत्ति बढ़ गयी है। भाषा की प्रकृति में एक लचीलापन आ गया है और भावी विकास केलिए अनन्त क्षेत्र खुल गया है।

भाषा समृद्धि के साथ ही सूर ने माधुर्य पर भी सम्यक् दृष्टि रखी है। सहजता को यथावत् सुरक्षित रखते हुए उन्होंने उसे मसृण करने का भी सफल प्रयास किया है।

ब्रज–भाषा की सर्व–वन्दित माधुरी इस भाषा का सहजात नहीं है, वह बहुत अंशों में सूर की सर्जना है।

भाषा के स्वरूप निर्माण के अतिरिक्त सूर ने ब्रजभाषा के अभिव्यंजना–कौशल में भी असीम अभिवृद्धि की है। सूर ने प्रसाद और माधुर्य गुण–युक्त पद–योजना पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है और उसका अप्रतिम रूप उनके पदों में प्राप्त होता है। ओज–प्रधान पद–योजना का अवसर सूर के विषय के अन्तर्गत कम था किन्तु दो–चार प्रसंगों में ही सूर ने ऐसी कलात्मक योजना प्रस्तुत की है उसकी समता के पद साहित्य में बहुत ही कम हैं।

वर्ण–योजना कलात्मक रुचि का सुंदर निदर्शन है। सूर के शब्दों में इतना अधिक अर्थ–चमत्कार है कि सहृदय उसमें रसमग्न हो जाता है। उनके शब्दों में न केवल लक्षणा और व्यंजना का ही अतुल वैभव मिलता है वरन् अभिधा शक्ति का पूर्ण चमत्कार प्राप्त होता है। सूर की शब्दावली का अर्थ–सौरस्य ही उनके अपरिमेय रस–सागर का मूल है। सूर की अप्रस्तुत–योजना संस्कृत–काव्य की उच्छिष्ट अलंकृति का आश्रय मात्र नहीं ग्रहण करती, उसमें उक्ति का रमणीयार्थ प्रदान करने की शत–शत नव योजनाएँ विद्यमान हैं। सूर की अलंकृत उक्तियों की विविधता कला को संजीवनी प्रदान करती है।

काव्य शास्त्रीय अलंकार–योजना के घेरे में सीमित न रहकर सूर ने स्वतंत्र रूप से भावाभिव्यक्ति को सजाया है। यही उनकी कलात्मक अप्रस्तुत–योजना का मर्म हैं। सहृदयता और वाग्विदग्धता का जो अनुपम सामंजस्य सूर की वक्रोक्तियों में मिलती है वह कदाचित ही कहीं उपलब्ध हो। कहने का अभिप्राय यह हे कि सूर की अभिव्यंजना ब्रज भाषा–काव्य–कला का प्रमाण है। परवर्ती काव्य में सूर की अभिव्यंजनाएँ तथा उनके सूत्र ही काव्य–कला के आदर्श बने।

हिन्दी–काव्य–धारा में गीतिकाव्य–परंपरा काव्य–कला की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस परंपरा के निर्माण में सूर का योगदान अपूर्व है। सूर ने पद–रचना का साहित्य–संगीत–युक्त स्वरूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने संस्कृत काव्य की रमणीय पद–योजना के आन्तरिक संगीत और राग–रागिनियों के बाह्य संगीत के विधि–विधानों से शास्त्र सम्मत प्रगीत पद्धति का प्रचलन किया है। संस्कृत के संपन्न साहित्य में भी गीति–काव्य की कोई परंपरा न थी – खण्ड काव्यों, स्त्रोतों और मुक्तकों में गीति–काव्य के तत्व मात्र बिखरे पड़े थे। सूर ने अपनी प्रतिभा के बल पर एक सर्वथा नवीन और रस–पुष्ट संगीतमय काव्य–रूप का आविष्कार किया।

सूर के गीत, लीला का वस्तुगत आधार लिए हुए हैं। लीला के उपादानों से ही कवि ने स्वानुभूति को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार सूर का प्रगीत वर्णन न तो शुद्ध प्रगीत काव्य (Lyric) है और न शुद्ध वर्णनात्मक काव्य। वह मुक्तक होते हुए भी कथा की श्रृंखला में बाँध कर प्रबंध काव्य के गुणों का अर्जन कर लेता है। यह 'प्रगीत वर्णन' या 'वर्णनात्मक प्रगीत' भारतीय काव्य–कला का एक नवीन रूप–विधान है।

विविधता सूर की पद–रचना की प्रमुख विशेषता है। सूर के पद संगीत के इतने रागों में बंधें हैं कि शास्त्रीय संगीत के सिद्ध गायक भी इतने अधिक रागों की कल्पना नहीं कर सकते। राग और तालों की विविधता पद–रचना में आकर्षण और मनोरमता उत्पन्न करती है।

सूर ने पदों में विविध छंदों का विधान बड़े ही कौशल से रखा है। उनके छन्द, दोहा, रोला, गीतिका, विष्णुपद, सरसी, लावनी, धनाक्षरी और दण्डक आदि रागों की स्वर–संपत्ति को पाकर विशेष रूप से गेय हो गये हैं। इसीलिए सूर के पश्चात् पद–रचना की दो संपन्न प्रणालियाँ चल निकलीं। एक तो राग–रागिनी–युक्त

पद–पद्धति और दूसरी दोहा, चौपाई, सवैया और धनाक्षरी आदि की मुक्तक छंद–पद्धति। पदों में तो संगीत का वैभव रहा ही, छंदों को भी संगीतात्मकता की पूर्व–पीठिका का आधार प्राप्त हो गया।

सारांश यह है कि ब्रजभाषा के स्वरूप को स्थिर एवं समृद्ध करने के कारण, कलात्मक अभिव्यंजना का अद्‌भुत विकास करने के कारण और नवीन काव्य–माध्यम प्रस्तुत करने के कारण हिन्दी काव्य में सूर का स्थान मूर्धन्य है।

सूर के पूर्व हिन्दी काव्य–कला की स्थिति सर्वथा उपेक्षणीय थी। अकेले सूर के अप्रतिम स्पर्शों से वह सहसा जगमगा उठी। अतः हिन्दी काव्य–कला के इतिहास में सूर का स्थान निर्माता–कलाकारों की परंपरा में अग्रगण्य रहेगा।

३.४. सूर और अन्य कवि-कलाकार

आलोचक–गण सूर की तुलना तुलसी और कबीर जैसे कवियों से करते रहे हैं। किंतु इन कवियों के वर्ण्य–विषय और काव्य–प्रणालियों में इतना भेद है कि इस प्रकार की तुलना न्यायपरक नहीं कही जा सकती। एक प्रबंध काव्य के रचयिता की तुलना गीतिकाव्य या मुक्तक–काव्य के रचयिता से करना तर्कसम्मत नहीं है। सूर गीतकार थे, उन्होंने हिन्दी काव्य–कला के क्षेत्र में विशेष योग दिया है अतः हिन्दी के गीति–काव्यकारों और काव्य–कला के अग्रणी शिल्पियों से ही उनकी तुलना की जा सकती है।

३.४.१. सूर और कबीर आदि सन्त कवि :

नामदेव, कबीर, नानक, दादू आदि संतों ने सूर की भाँति ही स्फुट पदों की रचना की है। पद–रचना के स्वरूप की दृष्टि से नामदेव और कबीर आदि के पद सूर के विनय–पदों से बहुत भिन्न नहीं है, किन्तु इन संतों के पदों में न तो सम्यक् राग–विधान है और न शब्दावली में अभिव्यंजना का वैभव है। भाषा अव्यवस्थित है। उलटबासियों,

हठयोग आदि के सिद्धान्तकथन और उपदेशादि की मनोवृत्ति के कारण दोनों के पदों का आत्मभिव्यंजन गुण भी स्वतः विलीन हो जाता है। इस प्रकार सन्त बानियों में पद–रचना के अविकसित स्वरूप को छोड़कर और किसी प्रकार की विशेषता नहीं है। इन संतों की पद–रचना में कलात्मकता का अभाव है अतएव कला के क्षेत्र में इनकी सूर के साथ तुलना संभव नहीं।

३.४.२. सूर और विद्यापति :

सूर से पूर्व के कवियों में विद्यापति श्रेष्ठ कलाकार हैं। उनके गीतों की संगीतात्मकता अपूर्व है। गेयत्व की दृष्टि से हिन्दी गीतिकाव्य परंपरा में विद्यापति का नाम अग्रगण्य है। पूर्वकालीन होते हुए भी विद्यापति से सूर पद–रचना में प्रभावित नहीं हुए। साथ ही सूर की पद–रचना विद्यापति की अपेक्षा अधिक समृद्ध और व्यापक है। विद्यापति की कला में वह विविधता नहीं मिलती जो सूर में उपलब्ध है।

सूर का काव्य विशाल है और उसमें अनेक नये और पुराने काव्य–रूपों का प्रयोग हुआ है। विद्यापति में एक ही प्रकार के पद आदि से अन्त तक मिलते जाते हैं। सूर की पद–रचना में संगीत के शास्त्रीय विधान का सुंदर सामंजस्य है, विद्यापति में सहज गेयत्व और संस्कृत काव्य शास्त्रीय आन्तरिक संगीत तो विद्यमान है पर बाह्य संगीत का पुट बहुत कम है।

३.४.३. सूर और तुलसी :

सूर और तुलसी के विषय में 'सूर और सूर तुलसी ससी' एक परंपरा–प्रसिद्ध प्रशंसनात्मक उक्ति प्राप्त होती है। किसी यमकप्रिय भावुक आलोचक की यह उक्ति हमें सूर और तुलसी के तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्रेरित करती है।

सूरदास और तुलसीदास दोनों भक्त कवि, हिन्दी साहित्य के उज्जवल नक्षत्र हैं। 'रामचरितमानस' का आख्यान करने में तुलसी को अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है और कृष्णलीला के गायकों में सूर अद्वितीय हैं।

सूर और तुलसी के काव्य का मूल्यांकन करते हुए डॉ. श्यामसुन्दरदास का कथन है, "तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा भिन्न है। व्यवहार दशाओं की अधिकता तुलसी में तथा प्रेम की अधिक विस्तृत व्यंजना सूर के काव्य में प्राप्त होती है। पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समानाधिकार है।[1]

साम्य :

तुलसी और सूर दोनों ने ही 'स्वांतः सुखाय रचना की है। दोनों भक्त–कवियों ने हिन्दी–काव्य–भंडार को भावपूर्ण शैली में प्रभावोत्पादक एवं लोक–रंजक स्वरूप में प्रस्तुत किया है। दोनों ने भगवान के दिव्य अलौकिक स्वरूप की सगुण लीला को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनाया है। दोनों ने ही भक्ति का आश्रय लेकर समाज में व्याप्त दुख–पीड़ा को भगवदाराधन से कम करने का प्रयास किया है। दोनों ने ही सरस, सुबोध तथा गेयात्मक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। वस्तुतः दोनों ही श्रेष्ठ भक्त और महाकवि सिद्ध होते हैं।

वैषम्य :

तुलसी और सूर में जहाँ साम्य दृष्टिगत होता है, वहीं पर्याप्त वैषम्य भी दिखलायी पड़ता है। तुलसी राम के भक्त है और सूर कृष्ण के। तुलसी ने दास्य–भाव की भक्ति को स्वीकार किया है और सूर ने वात्सल्य, माधुर्य एवं सख्य–भाव की भक्ति को। सूर ने अपने, इष्टदेव श्रीकृष्ण के बाल्यकाल एवं यौवन के सौंदर्य का मनोहारी रूप वर्णन किया है। तुलसी के राम अन्याय, अधर्म, असुर के नाशक तथा भू–गो–द्विज–देव के कल्याण हेतु अवतार लेने वाले शक्ति–सम्पन्न मर्यादा पुरुषोत्तम है।

---

1. "साहित्यिक निबंध" – डॉ. सुषमा गुप्ता, पृ.सं. 172

३.५. सूर और अन्य कृष्णभक्त कवि :

३.५.१. सूर और मीरा :

मीरा का पद–रचना उनके भक्ति–भाव के सहजोद्‌गार के रूप में हुई थी। उनके गायन में हृदय का प्रणय भाव और मर्म–वेदना तरल होकर बह उठी थी। पद–रचना, संगीतात्मकता, भाव–प्रवणता, अन्विति और भाषा–शैली की दृष्टि से उनके पद गीति काव्य के सर्वश्रेष्ठ रूप हैं। शुद्ध गीति–तत्वों के विचार से मीरा के पद सूर से भी अधिक उत्कृष्ट हैं किंतु काव्य–कौशल के अन्य अंगों पर विचार किया जाए तो मीरा के पदों में उनका सर्वथा अभाव है।

भाषा–संस्कार, अप्रस्तुत–योजना, चित्रण–कला, कलात्मक–पद–योजना, उक्ति–वैचित्र्य आदि की दृष्टि से मीरा और सूर की कोई समता ही नहीं हो सकती। मीरा की कविता का सौंदर्य उनकी मर्मानुभूति के सहज प्रकाशन में ही सीमित है। वास्तव में अभिव्यंजना–कौशल या काव्य–कला की दृष्टि से मीरा के पदों की समीक्षा करना आलोच्य के प्रति अन्याय होगा।

३.५.२. सूर और रसखान :

भक्तवर रसखान के सवैयों, कविताओं और दोहों के भाव पक्ष से प्रतीत होता है कि उनकी भक्ति भावना सूर जैसी थी। सूर की पद–रचना के स्वरूप का प्रभाव उन पर न पड़ सका। सम्भवतः इसीलिए कि सूर की पद–रचना राग–रागिनी पद्धति में हुई है और रसखान को भारतीय राग–रागिनी पद्धति का ज्ञान न था। राग–रागिनी के अभाव में उन्होंने दोहा, सवैया और कवितों को इसलिए अपनाया कि बिना संगीत ज्ञान के भी इन छंदों में कवि स्वात्मानुभूति का गेय रूप प्रस्तुत कर सकते है।

रसखान सूर की भावानुभूति से बड़े प्रभावित थे। सूर ने जिस प्रकार अपनी आत्मपरक भावभूमि को कृष्ण–लीला के माध्यम से प्रस्तुत किया है उसी प्रकार रसखान

ने कृष्ण–लीलाओं का संकेत मात्र करके स्वानुभूतिमय रसधारा प्रवाहित की है। जो रसावेग सूर के पदों का मूल तत्व है, वही रसखान के स्फुट छंदों में भी प्राप्त होता है।

सूर की भाषा का प्रभाव रसखान पर स्पष्ट है। सूर की ब्रज–माधुरी का अनुकरण करने का सफल प्रयास रसखान ने किया है। "सूर ने अपनी वर्ण–योजना में परुष वर्णों के प्रयोग से कहीं–कहीं भाषा में अपूर्व चटपटापन प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार रसखान ने भी कहीं–कहीं कठोर वर्णों से भाषा में चटक उत्पन्न की है। जैसे :–

सूर–नैना निपट विकट छवि अटके।

———————————————

मन्द मन्द मुसकात सखनि में रहत न काहू हटके।[1]

रसखान–अलि कोटि हटकी न रही अंटकी अखियाँ
लटकी लट सों।[2]

रसखान के ब्रजभाषा के रूप प्रायः वे ही हैं जो सूर के थे। किन्तु काव्य–रूप और अभिव्यंजना कौशल उनके भिन्न थे। इसीलिए रसखान की रचना भक्तिकालीन और रीतिकालीन कविता के बीच की कड़ी है।

---

1. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद 2322।
2. रसखान और धनानंद रसखान, पद 36।

चतुर्थ अध्याय
लोक संस्कृति के संरक्षक एवं वरिष्ठ भक्त सूरदास

लोक-संस्कृति के संरक्षक एवं वरिष्ठ भक्त - सूरदास

४.१. संस्कृति और सभ्यता में अन्तर :

'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा का है। इसकी निष्पति संस्कृत व्याकरणानुसार 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'डुकृञ् करणे' धातु से 'तिन्' प्रत्यय करने पर हुई है। संस्कृति शब्द का संबंध 'संस्कार' शब्द से माना जाता है। संस्कार का अर्थ है – मलापनयन जबकि 'संस्कृति' का अर्थ है, संस्कृत – शुद्ध करने की क्रिया। अस्तु 'संस्कृति' एवं 'संस्कार' ये दोनों शब्द समानार्थक हैं।

संस्कृति एवं सभ्यता का अध्ययन इतिहास दर्शन, समाजशास्त्र तथा मानव विज्ञान के अंतर्गत हुआ है। मानव–इतिहास के बोध के लिए संस्कृति का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि 'संस्कृति इतिहास का बुद्धिगम्य रूप है।''[1]

सभ्यता का क्षेत्र संकीर्ण है, और संस्कृति का व्यापक। संस्कृति न केवल सभा में; अपितु सर्वत्र ही साधु आचरण की गारण्टी देती है। किसी विशिष्ट समाज द्वारा दीर्घ सामाजिक अनुभवों के आधार पर साधु आचरण के जो मापदण्ड स्थिर कर दिए जाते हैं, वे जब सूक्ष्म भावनात्मक रूप में परिणत होकर समाज के दैनिक जीवन में अनायास ही व्यवहृत होने लगते हैं, तो संस्कृति का नाम पाते हैं। सभ्यता संस्कृति के वस्त्र का कार्य करती है; इसीलिए उसकी नकल आसानी से की जा सकती है, परंतु संस्कृति की नहीं।

सारांश यह है कि संस्कृति वह सूक्ष्म भावनात्मक तत्व है, जो हृदय की प्रेरणा से बाह्य आचारों में प्रस्फुटिक होकर भी सूक्ष्मता के निकट ही अधिक रहता है; और सभ्यता वह तत्व है, जो हृदय की अपेक्षा बुद्धि से अधिक संबंध रखता है।

---

1. Toynbee quotes Baghy in 'A Study of History', Vol. XII, P. 272.
मध्ययुगीन कृष्ण–भक्ति–परंपरा और लोक–संस्कृति, डॉ. रामेश्वर दयाल, पृ. 41 से उद्धृत।

४.१.१. लोक-जीवन और संस्कृति :

जैसा कि कहा जा चुका है, यदि किसी देश की संस्कृति का वास्तविक रूप देखना हो, तो वहाँ के लोक–जीवन को देखना चाहिए। जन–जीवन में प्रचलित रूढ़ियों को 'अन्ध–विश्वास' की फूँक से उड़ा देना श्रेयस्कर नहीं। इन्हीं रूढ़ियों पर संस्कृति के विशाल प्रासाद का ढाँचा खड़ा है। उनका सावधान अध्ययन संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण श्रृंखला जोड़ सकता है।

विविध पर्वों और उत्सवों के अवसर पर विशेष आचारों का पालन आज भले ही रूढ़ि बनकर रह गया हो; किंतु वह अतीत की किसी गौरवमयी वास्तविकता की ओर संकेत अवश्य करता है। उदाहरणार्थ – 'अहोई अष्टमी' और 'करवा चौथ' के पर्वों पर स्त्रियों द्वारा विशिष्ट देवियों की आकृतियाँ गृह–भिति पर चित्रित करने की प्रथा उत्तरी भारत में सर्वत्र पाई जाती है। दक्षिण में गाँवों की स्थापत्य–कला, स्त्रियों द्वारा बनाई गई चित्रकला, मूर्ति तथा देवताओं की मूर्तियों से यह मालूम पड़ता है कि यथार्थ संस्कृति हमारे ग्रामीण जीवन में ही थी।

४.१.२. लोक-साहित्य और संस्कृति :

यह कहा जाता है कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। शिष्ट साहित्य के विषय में यह उक्ति कुछ अंशों में लागू नहीं भी हो सकती, क्योंकि शिष्ट–जीवन कृत्रिम जीवन होता है और सभ्यता के फेर में वह बहुत–सी बातों पर पर्दा डाल देता है। काव्य–शास्त्रियों के फतवे के अनुसार 'ग्राम्यत्व' एक दोष ही मान लिया गया है।

वस्तुतः लोक–साहित्य ही जीवन के अधिक निकट पाया जाता है, क्योंकि वह शिष्ट–साहित्य की भाँति सधे–बँधे रूप और पूर्व निर्मित साँचे में न ढाला जाकर वन्य निर्भर के समान स्वतंत्र गति से चलता है। शिष्ट–साहित्य में भाव, बुद्धि, तर्क, युक्ति – सभी का संस्कृत रूप रहता है। डुकरिया पुराण का कहानी–साहित्य और

गीत–साहित्य भी बड़ा ही समृद्ध है – आकार की दृष्टि से ही नहीं, अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी। उदाहरण के लिए विवाह के अवसर पर आँधी–पानी को बाँधने वाले गीत भारतीय जीवन पर तांत्रिक प्रभाव के सूचक हैं। रोग दूर करने के लिए झाड़–फूँक और टोने का प्रचलन भी इसी की ओर संकेत करता है।

४.१.३. लोक-संस्कृति के प्रमुख तत्व :

संस्कृति के संबंध में जो तत्व सबसे महत्वपूर्ण और विचारणीय है, वह है विगत का प्रभाव। लोककथाओं की ओर यदि हम थोड़ा–सा ध्यान दे तो स्पष्ट रूप से ज्ञात हो सकता है कि लोक–संस्कृति का प्रमुख आधार वह विगत ही है, जिसकी वाणीगत अभिव्यक्ति आज भी लोकगीतों और लोककथाओं में बिखरी पड़ी है।

लोक–संस्कृति विकासशील लोक–संस्कार पर आश्रित है और संस्कार परंपरागत होकर भी रूढ़ि का पर्याय नहीं है। वह व्यक्तिगत संस्कार से किंचित् भिन्न है जो व्यक्ति की भाँति जन्म लेकर मरता नहीं अपितु विकसित होता रहता है। वह गतिशील, और प्रसार–प्रवण है। आनंद उसका स्त्रोत है और मंगल–भावना प्राण। परंतु वह आनंद व्यक्ति–मानस का न होकर लोक–मानस का होता है। मंगल–भावना व्यक्ति के लिए ही न होकर लोक के लिए होती है। ''लोक–संस्कृति के मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं :–[1]

★ भिन्नता में एकता
★ बाह्य रूप में परिवर्तन, पर तात्विक स्थिरता
★ मानवता और सहिष्णुता
★ प्रकृति की उपासना
★ अमर सत्य का, जो सदा सरल होता है, पालन
★ सब प्रकार की सद्विद्या और कला–कौशल की उन्नति,
★ आध्यात्मिक विकास
★ संतों, तत्वज्ञानियों, महापुरुषों का युग–युगान्तर में अटूट प्रादुर्भाव।
★ ज्ञान की पिपासा और वह जहाँ से प्राप्त होता हो उसका ग्रहण और
★ प्रजापालक शासन।

---

1. लोक–संस्कृति अंक–सम्मेलन–पत्रिका, प्रयाग, अंक वर्ष 2000 ,पृ. 74.

४.१.४. भारतीय संस्कृति में ब्रज का महत्व और इसके संरक्षण में सूर की भूमिकाः

संस्कृति वास्तव में एक व्यापक और गतिमान् वस्तु है, जिसे किसी प्रकार की परिभाषा अथवा सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। अनादिकाल से मानव–संस्कृति में विकास होता रहा है। इसलिए संस्कृति से उस स्थिति का बोध होता है, जो समाज के विकास–क्रम की निर्देशिका है, यह एक प्रकार से प्रकृति–सिद्ध है। भारतीय संस्कृति के अध्येताओं ने उसे कई कालों में विभाजित किया है, परंतु वह विभाजन हमारी दृष्टि से काल्पनिक ही है। वह स्वयं अविभाज्य है।

भारतीय संस्कृति के संबंध में जब हम ब्रज संस्कृति का नाम लेते हैं, तो हमें एक क्षेत्रीय संस्कृति का बोध होता है; अर्थात्–उस क्षेत्र के विभिन्न संस्कार, रीति–रिवाज, वेष–भूषा, परंपराएँ, कर्म–काण्ड, पर्व, उत्सव और खान–पान आदि कैसे रहे हैं, तथा मानव के विकास में इन सब का क्या योगदान रहा है।

'ब्रज' शब्द भारतीय वाङमय में बड़ा पुराना है; पर इसका प्रयोग क्षेत्र अथवा प्रदेश विशेष के लिए अपेक्षाकृत बाद में हुआ है। ऋग्वेद में 'ब्रज' शब्द का प्रयोग 'गोष्ठ' अथवा 'गोशाला' के अर्थ में हुआ है। महाभारत में भी इसका प्रयोग देश अर्थ में न होकर, बड़े–बड़े सींगों वाली गायों के निवास–स्थान के अर्थ में हुआ है। पुराणों में अवश्य ही यह शब्द देश–वाचक मिलता है। हरिवंश–पुराण, वायु–पुराण, श्रीमद्भागवत–पुराण, वाराह–पुराण, पद्म–पुराण आदि में ब्रज की चर्चा है। सम्भवतः प्रदेश के अर्थ में ब्रज का प्रयोग 13वीं शताब्दी के पश्चात् ही हुआ, और उसी समय यहाँ की भाषा का नाम भी 'ब्रज–भाषा' हुआ।[1]

भारतीय इतिहास में ब्रज के पुनीत क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। इस क्षेत्र में विकसित संस्कृति की छाप समूचे और भारत की संस्कृति पर आज भी देखी जा

---

1. 'ब्रज का इतिहास' – श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, प्रकाशक–ब्रज–साहित्य–मण्डल, मथुरा।

सकती है। सांस्कृतिक और राजनीतिक – दोनों ही दृष्टियों से इसका अमिट प्रभाव रहा है। प्राचीन काल में यह भू–भाग शूरसेन जपपद के नाम से प्रसिद्ध और भारत के जनपदों में विशेष रूप से समाहृत था, जिसका राजनीतिक प्रभाव से भी अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव भाषा, धर्म और कला के क्षेत्र में पड़ा; और ये ही तीन वस्तुएँ संस्कृति के आधारभूत तत्व माने जाते हैं।

इस प्रदेश की भाषा किसी समय शौरसेनी के नाम से संकेतित होती थी। ब्रज–भाषा का साहित्य के क्षेत्र में शताब्दियों तक अटल साम्राज्य रहा और आधुनिक हिन्दी के ढाँचे में भी बहुत कुछ शौरसेनी की ही सामग्री लगी हुई है। भारत के प्रमुख धर्म––वैष्णव–धर्म का आविर्भाव इसी जनपद के मूल धार्मिक तत्वों के आधार पर हुआ और उसके विकास में भी इसका येाग सबसे अधिक है।

इससे भी कहीं अधिक गौरवशाली देन है – समन्वयात्मक दृष्टिकोण। वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर अन्य देवी–देवताओं में भी उन्हीं के अंश की कल्पना कर सभी के साथ उनका तादात्म्य स्थापित किया गया। प्राचीन काल में यक्ष, नाग और मातृ–देवों की पूजा शूरसेन जनपद में प्रचलित थी। इनको भी विष्णु की सी विभूति स्वीकार कर मान्यता प्रदान की गई।

गिरिमह, इन्द्रमह और नदीमह नामक प्राचीन उत्सवों को गोवर्धन–पूजा, इन्द्र–पूजा और यमुना–पूजा के रूप में अङ्गीकार किया गया, जिनका 'सूरसागर' में स्पष्ट वर्णन हुआ है। ब्रजक्षेत्र के इस साँस्कृतिक विकास में वहाँ के जीवन–साधनों की सुगमता का भी योग कुछ कम नहीं था। यहाँ की भूमि सोना उगलती थी और गोपालन इतने उच्च स्तर पर पहुँच चुका था कि – 'घी–दूध की नदियाँ बहती थी'। वाणिज्य की दृष्टि से भी मथुरा एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। जहाँ कौशाम्बी, साकेत और पाटलिपुत्र से आने वाले सार्थवाह कपिशा, तक्षशिला और शाकल से आनेवाले सार्थवाहों के साथ अपने पुण्यों का

विनिमय करते थे। इन सब साधनों से संपन्न प्रदेश में आध्यात्मिक चिन्तन के साथ–साथ सांसारिक आमोद–प्रमोद और हास–उल्लास की अभिव्यक्ति के स्त्रोतों का स्फुटन भी स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि सामूहिक रास–नृत्य, वंशी–वादन और नारायण गीतों की परंपरा यहाँ अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही थी, जिसका प्रभाव आज भी ब्रज के जन–जीवन पर स्पष्टतया लक्षित होता है। मध्य–काल में इस परंपरा की सुंदर अभिव्यक्ति हुई। सूरदास के अमर पद नारायण–गीतों की ही परंपरा में आते हैं, जिनमें वंशी–वादन और मण्डलीकृत रास–नृत्य की परंपराएँ भी पूर्णतया प्रतिबिम्बित हुई है।

पुष्टि–संप्रदाय का पूर्ण विकास ब्रज–क्षेत्र में हुआ। संप्रदाय के प्रचार और प्रचार का कार्य ऐसे भावुक भक्तों के द्वारा संपन्न हुआ, जो प्रायः इसी क्षेत्र के रहनेवाले थे और यहाँ की प्राचीन परंपराओं से परिचित थे। अष्टछाप के कवियों ने ब्रज की संस्कृति का चित्रण जिस सहज भाव से किया है, उसमें स्वाभाविकता है और अतिशयोक्ति भी यथार्थ पर आधृत है। ब्रज–लोक उनके लिए नित्य–लोक है। भगवान कृष्ण की सब लीलाएँ भी उनके लिये नित्य हैं। इस गोलोक में यमुना, वृन्दावन, निकुञ्ज इत्यादि नित्य रूप में ही विराजते हैं। भगवान् की नित्य लीला–सृष्टि में प्रवेश करना ही इन भक्तों का साध्य रहा है।

सूरदास जी श्रीनाथ जी के मंदिर में ठाकुर जी के नित्य और नैमिक्तिक उत्सवों, भोगों तथा श्रृंगारों का कीर्तन स्वनिर्मित पदों द्वारा किया करते थे। इस गायन–पद्धति में अनेक राग–रागनियों तथा ताल–स्वर का समावेश था। भगवान कृष्ण के सभी उत्सव, भोग तथा श्रृंगार ब्रज–भूमि में हुए। इसलिए इन सब के लिए ब्रज के ही पदार्थों, ब्रज की ही कथाओं और ब्रज के ही साधनों का उपयोग हो सकता था। यही कारण है कि सूर–साहित्य में ब्रज–भूमि के अनेक संस्कारों, प्रथाओं, व्यञ्जनों, वेष–भूषा, विश्वास, पर्व, उत्सव आदि का समावेश अपने आप हो गया।

पुष्टिमार्ग का मूल आधार श्रीमद्भागवत रहा है। इसके रचना–काल तथा रचना–स्थल के संबंध में अभी तक कोई निर्विवाद निर्णय नहीं हुआ है, पर उसके अंतः साक्ष्य के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसका रचना–स्थल दक्षिण भारत में कोई स्थान रहा होगा। इसमें ब्रज का जो वर्णन है, वह भी श्रुति एवं परंपरा से ही आया हुआ प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए दशम–स्कंध के इन श्लोकों को ही लीजिए :

बनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः।
जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहाः।
वक्चिद्वनस्पति क्रोडे गुहायाँ चाभिवर्षति
निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः[1]

सूर–साहित्य में ब्रज की सांस्कृतिक परंपराओं की श्रृंखला जोड़ते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि सूर एक उच्चकोटि के कवि और सिद्ध गायक थे। अनेक कवि–प्रसिद्धियाँ, संगीत–परंपराएँ और परंपरागत प्रतीक एवं उपमान उनके सामने रहे होंगे। उन सभी का समुचित उपयोग उन्होंने अपने साहित्य में किया है। इन सभी साधनों को उन्होंने ब्रज–संस्कृति का ही जामा पहनाया है।

सूर कम–से–कम पुष्टि–संप्रदाय में दीक्षित होने के समय नेत्रहीन अवश्य थे, इसलिए संभव है कि उनके वर्णन में यथार्थ की अपेक्षा कल्पना का योग पर्याप्त मात्रा में रहा हो। फिर भी सूर–साहित्य के पीछे ब्रज की सांस्कृतिक परंपराओं की एक सुदृढ़ और व्यवस्थित श्रृंखला है। उनमें ब्रज–साहित्य, ब्रज–लोक–जीवन और ब्रज–लोक–परंपराओं से गुँथा हुआ है।

---

1. श्रीमद्भागवत – 10, 20, 27–28;
सूर ओर उनका साहित्य – डॉ. हरबंशलाल शर्मा, पृ.सं. 19 से उद्धृत्।

किसी विशिष्ट समाज अथवा प्रदेश की जब हम चर्चा करते हैं, तो उसके आचार–विचार, रीति–रिवाज, पर्व–उत्सव, कला–कौशल, उपासना–पद्धति, विविध विश्वास, विविध प्रथाओं आदि सभी अंगों पर दृष्टिपात करते हैं। इन्हीं सब अंगों द्वारा किसी जाति–विशेष अथवा प्रदेश की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। "सूरदास जी के काव्य में अनेक प्रकार के भोजनों का उल्लेख है। छप्पन प्रकार के भोजन तो साधारण रूप से उल्लिखित हैं, पर किसी–किसी अवसर पर उन्होंने 1600 प्रकार के भोजनों का भी उल्लेख किया है।[1]

जहाँ तक अनुमान है, सूरदास जी ने भक्ति–भाव से विभोर होकर श्रीकृष्ण चरित की अलौकिकता दिखाने के लिए ही ऐसा अतिशयोक्ति–पूर्ण वर्णन किया है।

४.२. सूर की भक्ति-भावना की विशिष्टता :

भक्ति की धारा का वास्तविक विकास तो रामानंद और वल्लभाचार्य के प्रयत्नों द्वारा ही हुआ था और उसमें भी सगुण भक्ति धारा, निर्गुण भक्ति धारा की तुलना में अधिक प्रभावशाली और व्यापक रही। सगुण भक्तिधारा अपने दो रूपों – रामभक्ति और कृष्ण भक्ति तथा अनेक विभिन्न उप–संप्रदायों में विभक्त हो गई।

हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्ति की अजस्त्रधारा को प्रवाहित करनेवाले भक्त कवियों में सूरदास का स्थान मूर्धन्य है। वे हिन्दी–साहित्याकाश के सूर्य तो हैं ही, बाल वर्णन के क्षेत्र में भी सम्राट है; यह बात सर्वमान्य है। उनके दिव्य नेत्रों के समक्ष उनके श्याम सुंदर नित्य क्रीड़ा करते है। सूर कल्पना नहीं करते, वे तो देखते हैं और विशद वर्णन करते हैं, इसलिए उनकी वाणी सजीव, ललित और मर्मस्पर्शिनी है। सूरकाव्य का मुख्य विषय कृष्ण–भक्ति है।

---

1. सूरसागर (ना.प्र.सभा) पद 801, 1014, 1831 आदि।
"सूर ओर उनका साहित्य" – डॉ. हरबंशलाल शर्मा, पृ.सं. 20 से उद्धृत्।

मानव जीवन में बहार लानेवाला कवि सौंदर्य पारखी होता है और सौंदर्य वही है जो सत्य में स्थित होता है। चिरन्तन सत्य और युग सत्य दोनों ही में सौंदर्य का अनुभव करके कवि उन्मत्त हो जाता है और जब उसका उन्माद हृदय में नहीं समाता तब वही संगीतमय वाणी के रूप में व्यक्त होकर काव्य की संज्ञा पाता है। कवि का सौंदर्य–दर्शन प्राकृतिक और हृदयग्राही होने के साथ जितना सूक्ष्म होता है कवि को उतनी ही उत्कृष्टता प्रदान करता है। सूरदास इसी सौंदर्य को अपनाते हुए वत्सल भाव से गा उठे –

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोंसो कहत मोल को लीन्हों, तू जसुमति कब जायो।"

यहीं नहीं जब बालक श्रीकृष्ण माखन खा लेते हैं तो माँ यशोदा के पूछने पर वह बैंठते हैं –

"मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पीछे, मधुवन मोहिं पठायो।"

४.२.१. वात्सल्य भक्ति के सम्राट-सूरदास :

सूर काव्य में वात्सल्य के विविध आयाम :

सूर के संयोग–वात्सल्य से संबंधित कृष्ण सौंदर्य, तोतली बोली, उनकी बाल सुलभ चेष्टाएँ और क्रिया–कलाप विश्व साहित्य की अनुपम निधि हैं।

भादों मास की कृष्णष्टमी को घोर अँधियारी अर्द्ध रात्रि को कृष्ण का जन्म हुआ। देवकी का हृदय काँपने लगा और उनकी प्रेरणा पाकर वासुदेवकृष्ण को लेकर गोकुल की ओर चल पड़े। यहाँ सूरदास जी ने भी देवी सहायता का संकेत किया है कि उस समय कंस के पहरेदास सो गए और अनायास स्वतः फाटक खुल गए। घनघोर बरसात के कारण किसी ने तनिक भी आहट न पाई। जल की अधिकता से ऊफनती जमुना का जल कृष्ण जी के चरण स्पर्श से कम हो गया। इन्हीं सब तत्वों के समावेश से सूरदासजी ने कृष्ण जी की रहस्यमयी शक्ति को व्यक्त किया।

पूर्व कार्यक्रमानुसार वसुदेव यशोदा के पास कृष्ण को लिटा कर उनकी कन्या को ले आये। सुबह कंस को जब देवकी के प्रसव का समाचार मिलता है, तब तक कृष्ण को यशोदा के सुरक्षित आँचल और नंद की गोद का आश्रय प्राप्त हो जाता है। कन्या की खबर पाकर कंस आया और उसे उठाकर उसने ज़मीन पर जोर से पटक दिया। वह कन्या यह कहती हुई आकाश की ओर प्रस्थान कर गई कि तेरा काल गोकुल में जन्म ले चुका है। यह सुन निष्प्रभ हो भयावह कारगुजारियाँ अमल में लाने का मन में विचार करता हुआ कंस राजमहल लौट आया।

यहीं से कृष्ण का जीवन दो धाराओं में बहने लगता है। एक ओर वे वात्सल्य के आलम्बन बनते हैं, तो दूसरी ओर कंस के भेजे हुए असुरों का संहार करते हैं। यहाँ से सूरदास जी का बाल–रूप वर्णन का कार्य प्रारंभ होता है। बालक कृष्ण की कोई चेष्टा और उनका कोई भी रूप ऐसा नहीं जिसे सूरदास जी ने अपनी लेखनी से न सँवारा हो। संयोग वात्सल्य के न जाने कितने सारे चित्र, दृष्टि के आगे साकार हो उठते हैं। बालक कृष्ण का पावन सौंदर्य, उनकी तोतली बोली, उनके कार्य, उनकी एक–एक चेष्टा जैसे साँचे में ढाल कर रख दी गई हो, बालक कृष्ण का पेट के बल घिसटना, घुटनों के बल चलना, डगमगाते लड़खड़ाते पैरों से चलना सीखना और सीखने के उत्साह में भागना, दौड़ना तथा फिर गिरना और फिर उठना, मणि खम्भों में परछाई देखकर किलकारी मारना, परछाई को दहि माखन खिलाना, सिर के धुँधराले बालों का मस्तक पर बिखरे रहना फिर ऊपर से नजर लग जाने के भय से यशोदा माता का टौना (काजल की बिन्दी) लगाना, चन्द्र खिलौना माँगना, भोलेपन में बहुत सारे हठ करना, सिर के बालों को बढ़ाने के लालच में कच्चा दूध भी पी लेना, बाल न बढ़ने पर माँ से रार (झगड़ा) मोल लेना, शिकायत करना, अपने घर में मटकों में भरे माखन खाने एवं खिलाने में उत्साहपूर्वक भाग लेना, नित नई शरारतों का कार्यक्रम बनाना, साथी सखाओं को जोड़ कर घर–घर माखन चुराना, खान–खिलाना और खाने से ज्यादा

गिरना, पकड़े जाने पर बहुत सारे बहाने बनाना और भोली सूरत बनाकर गोपियों में अधिक प्रेम उत्पन्न करना इत्यादि न जाने कितने ही चित्र सूरदास जी ने खींचे है जिसमें बालकों की एक–एक मनोवृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टिगोचर होता है।

वात्सल्य भक्ति द्वारा भक्त को भगवान का अहर्निश सामीप्य प्राप्त होता है। इस प्रकार की भक्ति करनेवाला भक्त की भगवान् के प्रति वैसी ही स्नेहमयी ममता होती है जैसे माता–पिता की अपने बालक के प्रति होती है। नंद–यशोदा और ब्रज की वयष्क गोपांगनाओं की बालक कृष्ण के प्रति इसी प्रकार की भक्ति थी। सूरदास ने वात्सल्य भक्ति के जो महत्वपूर्ण पद रचे हैं, वे भारत ही नहीं, विश्व के साहित्य में भी बेजोड़ है। उनकी रचनाओं से ही वात्सल्य ''भाव'' को रस का महत्व प्राप्त होता है।

४.२.२. सूरदासजी की पुष्टिमार्गीय भक्ति :

सूर की भक्ति पद्धति का मेरुदण्ड पुष्टिमार्गीय भक्ति है। इन्होंने इसी के आधार पर अपनी भक्ति को प्रवाह पुष्टि, मर्यादापुष्टि, पुष्टि–पुष्टि और शुद्ध पुष्टि नाम दिया। मर्यादा पुष्टि में भक्त अनंतकाल तक प्रभु की प्रेम याचना करता चला आता है। मर्यादा पुष्टि में भक्त अन्य स्थानों से अपने मन को हटाकर प्रभु में केन्द्रित करता है। पुष्टि–पुष्टि में भक्त को भगवान के प्रति प्रेम याचना करने का व्यसन–सा हो जाता है और अंतिम प्रकार की भक्ति में भक्त प्रभु की कृपा का पात्र बनकर उसके अनुग्रह की अनुभूति करता है। इस स्थिति को प्राप्त कर जीवन परमानंद में लीन हो जाता है।

अन्य भक्ति :

सूरदासजी सैदव प्रभु कृपा के लिए लालायित रहते हैं, इनके विनय के पदों में नवधा भक्ति के विविध अंगों – श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन आदि का पूर्ण विवेचन मिलता है। सूर ने अपने भक्ति के पदों में संसार की निस्सारता दिखा कर भक्ति के महत्व को प्रतिपादित किया है।

सूर साहित्य में साधना भक्ति, भावना भक्ति और प्रेम भक्ति का उत्कृष्ट रूप दिखाई देता है। सख्य भाव की भक्ति को प्रकट करते हुए कवि कहते हैं – 'आज हौं एक–एक करि टरिहौं।''[1] सूर हरि से बड़ा किसी को अपना मित्र नहीं समझते और कहते हैं – 'हरि सौं मीत न देख्यौं कोई।''[2]

श्रीमद्भागवत् में भक्ति के नौ प्रकार बतलाए गए हैं। पुष्टिमार्गीय भक्ति में इन सभी प्रकारों से 'सख्य', 'वात्सल्य', और 'माधुर्य' को इसके प्रमुख अंग माना गया है। सूरदास ने इन सब के साथ 'दास्य' का भी विस्तारपूर्वक कथन किया है।

४.२.३. दास्य भक्ति :

भगवान को स्वकर्मों का अर्पण करते हुए दीनतापूर्वक अपने को उनका सेवक मानना ही 'दास्य' भक्ति है।

''दास्य कर्मापेण तस्य कैड़यकर्यमपि सर्वथा।''[3]

इससे जीव का मिथ्या अहंकार दूर होकर उसमें विनम्रता आती है, और वह भगवान् को स्वामी मानकर अपने को उनका आज्ञाकारी सेवक समझता है। सूरदास कृत 'विनय' के अधिकांश पद दास्य भक्ति से संबंधित है।

''ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी।
दीन दयाल, प्रेम–परिपूरन, सबधत अंतरयामी।।''[4]

४.२.४. 'सख्य' भक्ति :

सख्या भक्ति दास्य से ऊपर की स्थिति है जिसका अभिप्राय है सखा अथवा मित्र भाव से भगवान की आराधना करना। इससे भक्त और भगवान् अर्थात् आत्मा और

---

1. 'सूर सौरभ' – डॉ. सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, पृ.सं. 7
2. –वही–
3. 'सूर सौरभ' (सूर काव्य में अभिव्यंजित लीला तत्व), डॉ. के. वैजयन्ती, पृं.सं.30
4. –वही–

पंचम अध्याय
मानववादी सूरदास

मानववादी सूरदास

५.१. मानववाद - अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप

मानववाद का अर्थ :

मानववाद का अर्थ – मानववाद को अंग्रेज़ी में 'Humanism' कहते है।

मानववाद की परिभाषा :

Humanism - Devotion to human interests; system concerned with ethical (not religious) standards and with the study of mankind.*

Belief in a human-based morality, a system of thought that is based on the values, characteristics, and behaviour that are believed to be best in human beings, rather than on any supernatural authority.**

Concern for people, a concern with the needs, well-being, and interests of people.***

Historically, a movement that arose with the Italian Renaissance, in the writings of Ficino, Pico, and later Erasmus & More. The humanists drew on classical literature (particularly that of Greece) and emphasized the centrality of human achievements and potential, in opposition to many of the claims of dogmatic theology and science.****

Any system of thought or action principally or exclusively concerned with human interests and values; the study of the humanities, literary culture, the character or quality of being human.*****

मानववाद का स्वरूप :

अंग्रेजी के 'हयूमैनिज्म' शब्द की अनेक व्याख्याएँ मिलती हैं जैसे मानवीय विकास के लिए किये जानेवाले अध्ययन हेतु ओर खासकर पुनर्जाकरणकाल में ग्रीक–लैटिन साहित्य के अध्ययन के लिए चलाया जानेवाला आंदोलन, मानव कल्याण

---

* "The Oxford Paper Back Dictionary" compiled by Jeyce. M. Hawkins

** "Merriom - Webster's Collegiate Dictionary" - Pg. No. 317

*** "Music and Temples - A Ritualistic Approach", L. Annapoorna, Pg. (vii) Prologue.

**** "The New Penguin Encyclopedia 2003" --- David Crystal, Pg. No. 741

***** "The World Book Dictionary"---Clarence L. Barnhart & Robert. K. Barnhart, Pg. No. 1029

के प्रति लगाव, मानवीय मूल्यों और आदर्शों पर टिकी विचारधारा, वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के कर्म और बुद्धि पर आधारित जीवन–पद्धति, धार्मिक मानववाद के रूप में एक ऐसा दृष्टिकोण, जो धर्म के क्षेत्र में ईश्वर के अस्तित्व का और ईश्वर–संबंधी व्यावहारिक मूल्य का विरोध न करते हुए भी ईश्वर की सत्ता में आस्था नहीं रखता।

उपर्युक्त समस्त अर्थ–भेदों से दो महत्वपूर्ण तथ्य उभरकर आते हैं। एक तो यह कि मानववाद उस आंदोलन का नाम है, जिसने ग्रीक और लैटिन के प्राचीन साहित्य के अध्ययन पर जोर दिया और दूसरा यह कि मानववाद एक ऐसी विचारधारा है जो मानवीय मूल्य को आध्यात्मिक व धार्मिक मूल्यों की तुलना में अधिक महत्व प्रदान करती हुई मानव को विश्व का केंद्र बिंदु स्वीकार करती है।[1]

पाश्चात्य विद्वान पोप का मत है कि 'मानवता' का उचित अध्ययन मानव है। अतः मानवतावाद का मानव से बड़ा घनिष्ठ संबध है। वस्तुतः 'मानववाद' और 'मानवतावाद' दो भिन्न विचार धाराएँ है। अतः यहाँ दोनों के अंतर को समझना आवश्यक है। मानववाद का सिद्धान्त वह है जो चिंतन के क्षेत्र में मानव तथा उसके हित को महत्व देता है। जाति, धर्म, देश, वर्ग आदि से ऊपर उठकर मनुष्य, मनुष्य में समता का भाव जगाता है। विद्वानों का मत है कि मानववादी विचारों का जन्म मानव के शोषण तथा उसके प्रति होनेवाले अन्याय के विरुद्ध प्रतिक्रिया में हुआ था। 'मानववाद' का अर्थ ऐसा वाद है जिसमें संसार के मनुष्यों की मंगलकामना का विधान हो। यह मानवीय करुणा, परोपकार, नैतिकता और अखण्ड आत्मविश्वास पर आधारित है। यह जाति, धर्म, वर्ग, संप्रदाय से ऊपर उठकर लोकहित का पक्षपाती है।

डॉ. सत्येन्द्र मिश्र का कथन है कि – ''मानवतावाद हृदय की संवेदनाओं को जगाकर मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। मानवतावाद मनुष्य को दानवी–वृत्तियों से बचाता है और उसमें देवत्व का विकास करता है।''[2] अतः

---

1. ''मानवतावाद और निराला काव्य'' – डॉ. राजेशकुमार शुक्ल, दक्षिण भारत त्रैमासिक पत्रिका, पृ.सं. 49
2. मानववाद : मानवतावाद की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि – डॉ. इन्द्रराज बैद, पृ.सं. 6

मानवतावाद, मानव मन में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम, सहानुभूति, सुख–दुख की अनुभूति, सद्भाव एवं लोकमंगल की स्थापना है।

कविवर पंत, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. विश्वंभर नाथ उपाध्याय आदि लेखकों ने अपनी कृतियों में दोनों ही नामों का साथ–साथ प्रयोग किया है। इसका रहस्य मानववाद और मानवतावाद के अर्थों की निकटता ही हो सकती है। हमारे विचार में, थोड़े बहुत अंतर के साथ दोनों शब्द एक ही विचारधारा और दर्शन के लिए प्रयुक्त हो रहे है।

५.२. मानववाद - ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में :

मध्य युग की समाप्ति पर पश्चिमी यूरोप में एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक परिवर्तन ने जन्म लिया, जिसने साहित्य, कला और चिंतन के क्षेत्रों को प्रभावित किया और अपने समय के फैले धार्मिक धटाटोप को चीरकर नये मूल्यों और मान्यताओं की स्थापना में योग प्रदान किया। यह परिवर्तन उस ऐतिहासिक नवजागरण के फलस्वरूप हुआ जिसने ग्रीक और लैटिन के प्राचीन साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन की आवश्यकता पर बल ही नहीं दिया, लेखकों, कवियों, अध्यापकों व पुस्तकाध्यक्षों जैसे चिंतनशील विद्वानों को इस दिशा में कर्मरत रहने की प्रेरणा भी प्रदान की। इस प्रकार 'नव जागरण युग क्लासिकी ज्ञान के पुनरुद्धार और प्रत्यावर्तन का युग था। इस सांस्कृतिक आंदोलन ने प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करके जातीय सुधार की नींव डाली। मानववादी नाम ऐसे ही प्रबुद्ध नव–जागरण के संवाहक मनीषियों को, जिनमें पेट्रार्च, लोरेन्जों इरास्मस आदि उल्लेख्य हैं, दिया गया। इनके द्वारा प्रवर्तित सांस्कृतिक–बौद्धिक आंदोलन ही मानववाद कहलाया। इस आंदोलन का परिणाम यह हुआ कि प्राचीन ग्रंथ प्रकाश में लाये गये और नवीन मानवीय दृष्टि से उनका अनुशीलन किया गया तथा उनमें निहित सौंदर्य की चेतना को विशेष चाह के साथ अनुभूत किया गया। इससे कई लेखक प्रकाश में आये, उनकी कृतियाँ दुबारा लिखी गई, उन पर

समीक्षाएँ की गई और उनमें से अधिकांश ग्रीक कृतियों को लैटिन और इटैलियन भाषाओं में रूपांतरित भी किया गया।

इसी समय चर्च की सत्ता का भी विरोध हुआ और उसमें मानवीय गरिमा स्थापित की गई। समस्त ग्रीक और लैटिन साहित्य को मानवीय मूल्यों का उद्‌गम माना गया। इस प्रकार मानववाद का यह पक्ष मानवीय मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा का ही पक्ष समझा जाता है।

मानववाद का पक्ष वह है जहाँ मानव सर्वाधिक महत्व का प्राणी समझा जाता है। एफ.सी.एस. शीलर (1864–1937) ने यह निश्चित करते हुए कि "समस्त दार्शनिक समझौते मानवीय क्रिया की उपज हैं और प्रोटेगोरस की इस मान्यता को स्वीकार करते हुए कि मनुष्य ही सबका मापदंड है (Man is the measure of all) अपने दंभवाद (प्रैग्मैटिज्म़) को भी मानववाद की संज्ञा से अभिहित किया था इससे यह पता चलता है कि एक ऐसी विचारधारा प्रकट हो चली थी जो मनुष्य को समस्त मानविकी के अध्ययन का केंद्र स्वीकार करती थी और जिसका मूल उद्देश्य मानव–सत्य का संधान था। इस महत सत्य की उपलब्धि का माध्यम भी मानव ही माना गया।"[1] इस परिप्रेक्ष्य में ही हमें मानववाद का वैशिष्ट्य धर्म के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। मानववाद ने उस धार्मिक मान्यता का विरोध किया जो मानव के समस्त क्रिया व्यापारों की प्रेरणा या नियोजन किसी मानवेतर का मानसोपरी सत्ता में ढूँढ़ने का उपक्रम करती थी।

मानवता ही मानववादियों का धर्म है। मानववाद राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि अवतारों की श्रेष्ठता तो घोषित करता है पर उन्हें देवता नहीं मानता। वह मानवता के उन गुणों या आदर्शों की सत्ता स्वीकार करता है, जिनसे मानव महा–मानवत्व की स्थिति को प्राप्त करता है।

---

1. "दक्षिण भारत" – एम.आर. राममूर्ति, जुलाई–सितम्बर 2001, पृ.सं. 4

मानववाद का विश्वास है कि अपने वैयक्तिक संतोष और सतत आत्मविकास को महत्वपूर्ण कार्यों तथा अन्य समाजोद्धारक गतिविधियों से जोड़कर व्यक्ति–मानव अपने जीवन को श्रेष्ठ बना सकता है। यह प्रवृत्ति मानव समुदाय की पारस्परिक आत्मीयता और उसकी लोकोपकारी प्रवृत्ति को रेखांकित करती है, जिससे व्यक्ति–मानव श्रेय का अधिकारी बन सकता है।

''मानववाद जीवन और जगत की वास्तविकता को सत्य मानता है, प्रकृति की रमणीयता को सौंदर्य मानता है तथा सेवा व पारस्परिक साहचर्य के भाव को शिव मानता है।''[1]

मानववाद एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का विश्वासी है जो सारे विश्व में लोकतंत्र, शांति और राष्ट्रीय–अंतरराष्ट्रीय धरातल पर उच्चस्तरीय जीवन की स्थापना के लिए कटिबद्ध हो। इससे मानववाद की व्यापक विश्व–भावना का पता चलता है। वह मानव मात्र की समानता, स्वतंत्रता और श्रेष्ठता का उद्घोष करता है और सामाजिक, धर्म–जाति–वर्ण निरपेक्षता और लोकतांत्रिक व्यवस्था को मानवीय मूल्यों की संज्ञा प्रदान करता है।

मानववाद बुद्धि और वैज्ञानिक पद्धति के पूर्ण सामयिक प्रयोग का विश्वासी है। यह प्रवृत्ति मानववाद में निहित समसामयिकता, नवीनता और वैज्ञानिकता की भावधाराओं की ओर इंगित करती है। आज का युग विज्ञान का युग है, तर्क और बुद्धि का युग है। यहाँ किसी सिद्धांत या बात को मान्यता तब तक नहीं मिलती, जब तक कि वैज्ञानिक विधि से उसका समुचित परीक्षण नहीं कर लिया जाता। यह दर्शन विज्ञान की कसौटी को अत्यधिक महत्व देता है। वह ईश्वर का अस्तित्व मानने को भी विवश हो जाएगा, यदि कोई सप्रमाण उसे सिद्ध कर दे।

---

1. ''दक्षिण भारत'' – एम.आर. राममूर्ति, जुलाई–सितम्बर 2001, पृ.सं. 6

पाश्चात्य भूमि पर धार्मिक मानववाद का जो स्वरूप उभरा वह बहुत कुछ भारतीय मानवतावाद का ही प्रतिरूप लगता है। दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध हैं। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। मानववाद और मानवतावाद दोनों की भावभूमि एक है और दोनों का जीवन–मंत्र भी एक ही हैं। दोनों मानव और मानवता को अपना केंद्र और धर्म मानकर चलनेवाली विचारधाराएँ हैं। अंतर मात्र इतना है कि मानवतावाद जहाँ आदर्श के अधिक निकट है, वहाँ मानववाद का झुकाव यथार्थ की ओर है। मानवतावाद का क्षेत्र अधिक व्यापक हैं, मानववाद, उसमें सहज ही समाविष्ट हो जाता है।

५.३. व्यापक मानवीय संवेदनाओं के अनुसंधाता महाप्रभुवल्लभ

यह तो सर्व विदित ही है कि मध्यकालीन व आचार्यों ने समस्त भारतीय जनता को बहुत गहराई से प्रकाशित किया है। इन सभी आचार्यों ने न केवल स्वयं अपने पवित्र, उच्च चारित्र्य, आध्यात्मिकता और निर्मल भगवद्भक्ति से जनता को श्रेष्ठ मानव जीवन बिताने की प्रेरणा दी, बल्कि अपने अर्जित व्यक्तित्व से इस देश के अनेक प्रतिभाशाली भक्तकवियों को ऐसे श्रेष्ठ और शाखत साहित्य के सर्जन की प्रेरणा दी जिससे भारतीय जनता ही नहीं समस्त विश्व के सहृदयजन आज भी नैतिकता का संदेश अखंड मानवता और आनंद की अनुभूति प्राप्त करते हैं। भारत वर्ष के ऐसे अनेक वैष्णव दार्शनिकों और भक्त आचार्यों की सुदीर्ध परंपरा में श्री वल्लभाचार्य अन्यतम है जिन्हें सूरदास जैसे विश्व–विश्रुत प्रतिभा को भी प्रभावित करने का श्रेय प्राप्त है। श्री वल्लभाचार्य भारत की सर्वोत्कृष्ट सर्जनात्मक प्रतिभा के प्रतिनिधि और "विभूति मय सत्व" थे। भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति कला और साहित्य को उनकी देन अभूतपूर्व है। उनकी सी व्यापक मानवीय संवेदना और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सूझबूझ के जननायक विश्व में विरल ही हुए है।

सहज मानवीय संवेदना और प्रेम माधुर्य की उस धारा ने भारत के कोटि–कोटि जनों को एक बार ही अपने प्रवाह में सम्मिलित कर किया था। ऊँचनीय, सवर्ण, अवर्ण,

साक्षर–निरक्षर आदि भेदों का श्री वल्लभाचार्य की पुष्टि–भक्ति में कोई स्थान न था। उनके सेवकों में यदि ब्राह्मण और सन्यासी थे तो कुम्हार, बढ़ई जैसे श्रम–जीवी लोग भी थे।

उपास्य – श्री वल्लभाचार्य ने भारत की पुरातन संस्कृति के खम्भ कृष्ण की लोक देवता के रूप में प्रतिष्ठा को पहचान कर उसे और भी सहज ग्राह्य, एवं मानवीय धरातल पर लोक प्रिय बनाया। मानव की इस सहज मार्मिक भावना का उदात्तीकरण उन्होंने बालकृष्ण को लाड–लड़ाने के माध्यम से किया है। सूर जैसी सहज कवि–प्रतिभा को बालकृष्ण जैसा समर्थ और व्यापक वर्ण्य, विषय देकर वल्लभाचार्य ने सारे विश्व को एक अनोखा उपहार दिया है। यदि वल्लभाचार्य बालकृष्ण के रूप में सूर को जीवन की आनंद और रसमयी दृष्टि न देते तो शायद वे सूर होकर भी जीवन में धिधियाते ही रहते। बालकृष्ण के सौन्दर्य, लीला, और उसके आस्वादक ब्रजमण्डल ही क्यों समूची मानवता को वल्लभाचार्य की यह देन अमूल्य है।

वल्ल्लभाचर्य जी ने बड़े मनोवैज्ञानिक आधार पर अपनी उपासना पद्धति में "पूजा" या अर्चना शब्द के स्थान पर "सेवा" शब्द का प्रचलन किया। "सेवा" शब्द से जो **वैयक्तिक संबंध व्यक्त होता है, निकटता, नि:संकोच, स्वच्छंदता ध्वनित होती है, वह प्रभुता के साथ जुड़ी पूजा या अर्चना शब्दों में कहाँ।**[1]

भगवान श्री सत्यसाईबाबा ने अपने एक वक्तव्य में सूर और कृष्ण के बीच हुए संवाद के बारे में यों बताया है :–

"एक बार भगवान श्री कृष्ण ने सूरदासजी से पूछा कि 'क्या तुम मेरी सेवा करोगे? तब सूरदासजी ने कहा कि – 'प्रभु, आपकी सेवा करने से मेरा अहंकार बढ़ने की संभावना है। दूसरी बात यह है कि आपकी सेवा करने के लिए तो कई भक्त लोग है, लेकिन आपके गरीब, असहाय और दीन दलित भक्तों की सेवा करने के लिए कोई नहीं है। मैं उनकी सेवा करना चाहता हूँ।[2]

1. "सूर सौरभ" – डॉ. एन. सुन्दरम, डॉ. सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, पृ.सं. 58. (अप्रेल–मई–जून 1999)
2. "तपोवनम" – श्री सत्य साई बुक्स एण्ड पब्लिकेशन ट्रस्ट, पृ.सं. 286–287

साक्षर–निरक्षर आदि भेदों का श्री वल्लभाचार्य की पुष्टि–भक्ति में कोई स्थान न था। उनके सेवकों में यदि ब्राह्मण और सन्यासी थे तो कुम्हार, बढ़ई जैसे श्रम–जीवी लोग भी थे।

उपास्य – श्री वल्लभाचार्य ने भारत की पुरातन संस्कृति के खम्भ कृष्ण की लोक देवता के रूप में प्रतिष्ठा को पहचान कर उसे और भी सहज ग्राह्य, एवं मानवीय धरातल पर लोक प्रिय बनाया। मानव की इस सहज मार्मिक भावना का उदात्तीकरण उन्होंने बालकृष्ण को लाड–लड़ाने के माध्यम से किया है। सूर जैसी सहज कवि–प्रतिभा को बालकृष्ण जैसा समर्थ और व्यापक वर्ण्य, विषय देकर वल्लभाचार्य ने सारे विश्व को एक अनोखा उपहार दिया है। यदि वल्लभाचार्य बालकृष्ण के रूप में सूर को जीवन की आनंद और रसमयी दृष्टि न देते तो शायद वे सूर होकर भी जीवन में धिधियाते ही रहते। बालकृष्ण के सौन्दर्य, लीला, और उसके आस्वादक ब्रजमण्डल ही क्यों समूची मानवता को वल्लभाचार्य की यह देन अमूल्य है।

वल्ल्लभाचर्य जी ने बड़े मनोवैज्ञानिक आधार पर अपनी उपासना पद्धति में ''पूजा'' या अर्चना शब्द के स्थान पर ''सेवा'' शब्द का प्रचलन किया। ''सेवा'' शब्द से जो **वैयक्तिक संबंध व्यक्त होता है, निकटता, नि:संकोच, स्वच्छंदता ध्वनित होती है, वह प्रभुता के साथ जुड़ी पूजा या अर्चना शब्दों में कहाँ।**[1]

भगवान श्री सत्यसाईबाबा ने अपने एक वक्तव्य में सूर और कृष्ण के बीच हुए संवाद के बारे में यों बताया है :–

''एक बार भगवान श्री कृष्ण ने सूरदासजी से पूछा कि 'क्या तुम मेरी सेवा करोगे? तब सूरदासजी ने कहा कि – 'प्रभु, आपकी सेवा करने से मेरा अहंकार बढ़ने की संभावना है। दूसरी बात यह है कि आपकी सेवा करने के लिए तो कई भक्त लोग है, लेकिन आपके गरीब, असहाय और दीन दलित भक्तों की सेवा करने के लिए कोई नहीं है। मैं उनकी सेवा करना चाहता हूँ।[2]

1. ''सूर सौरभ'' – डॉ. एन. सुन्दरम, डॉ. सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, पृ.सं. 58. (अप्रेल–मई–जून 1999)
2. ''तपोवनम'' – श्री सत्य साई बुक्स एण्ड पब्लिकेशन ट्रस्ट, पृ.सं. 286–287

सह–मानव के प्रति सूर में अधिक प्रेम था। उनके अनुसार मानव–सेवा ही माध ाव–सेवा थी। यही इस संवाद में प्रकट है।

५.४. कृष्ण-भक्ति शाखा के काव्य में मानववाद तथा समाज बोध-आलोचकों का विचार :

कुछ आलोचकों ने कृष्ण–भक्ति शाखा के कवियों को समाज–बोध से शून्य माना है। इन्हीं कवियों की श्रेणी में 'सूर' को रखकर तुलसी के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया है। "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है :

★ कृष्ण भक्त कवि हमेशा अपने रंग में मस्त रहनेवाले जीव है।

★ तुलसीदास जी के समान लोकसंग्रह का भाव इनमें न था।

★ समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवाह ये नहीं रखते थे।"[1]

इस कथन में स्पष्टता तो पर्याप्त है, पर इसकी सत्यता विचारणीय है।

इसी प्रकार डॉ. देवराज जैसे आलोचक ने लिखा – "समाज शास्त्रीय आलोचना सूर के साहित्यिक महत्व का उद्‌घाटन नहीं कर सकतीं"[2]

इस कथन का तात्पर्य भी यही प्रतीत होता है कि न तो 'सूर' में सामाजिक चेनतना ही थी और न सामाजिक संघर्ष के प्रति वे सजग ही थे। दूसरी ओर कुछ ऐसे आलोचक भी हैं जो इस प्रकार के आरोपों पर ज्यों का त्यों विश्वास कर लेने को तैयार नहीं हैं। हमारा भी यही विचार है।

डॉ. सत्येन्द्र जैसे वरिष्ठ समीक्षक ने अपना अभिमत इस प्रकार प्रकट किया :

"सूर के साम्प्रदायिक और आलंकारिक स्वरूप के नकाब को उलट कर देखने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि उस युग में भी सूर ने किस प्रकार जन–वाणी को अभिव्यक्त किया।"[3]

---

1. "सूर–साहित्य–नव मूल्यांकन" – डॉ. चन्द्रभान रावत, पृं.संत्र 490
2. –वही–
3. –वही–

इससे यह ध्वनि निकलती है कि सूर ने जन–जन की भावना को, जन–जन की वाणी में ही व्यक्त किया है। इस प्रकार सूर की सामाजिक दृष्टि के संबंध में दोनों पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं।

जो विद्वान 'सूर' में सामाजिक चेतना का अभाव मानते हैं, उनमें से कुछ तो तुलसीदास के समर्थक और भक्त हैं। उनमें एक दुराग्रह का पूर्वाग्रह सदृढ़ हो गया है। इसी कारण वे इतिहास की अन्य धाराओं और अभिव्यक्तियों के प्रति न्याय नहीं कर पाते। एक सफल इतिहासकार को जिस सहिष्णुता और तटस्थता की आवश्यकता होती हैं, वे भी रूढ़ आग्रहों के कारण नहीं रह पाई।

सूर और तुलसी की तुलनात्मक आलोचना इस युग की वस्तु नहीं, उनकी परंपरा पहले से चली आ रही है। कुछ कवियों ने इन दोनों की स्थितियों को स्पष्ट करने के लिए कुछ काव्यात्मक उक्तियाँ कीं और वे लोकोक्तियाँ बन गई। लोकमानस ने उन उक्तियों में अपनी ही भावना की अभिव्यक्ति पाई : अन्यथा लोक उन्हें स्वीकार कैसे करते? कुछ उक्तियों में सूर और तुलसी का साथ–साथ नाम है –

'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास।'[2]

जैसे कि सूर्य और चन्द्रमा ईश्वर के दो नेत्रों के समान माने जाते है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्यकाश के सूर्य सूरदासजी माने गये है तो, तुलसीदासजी ने चन्द्रमा – तुल्य प्रसिद्धि पाई है। शायद उसी की इन पंक्तियों में अभिव्यक्ति हुई है।

दोनों की श्रेष्ठता – इन पंक्तियों में प्रस्फुटित हुई है। पर सूर के समर्थक तो यही बताते हैं कि जैसे सूरज के प्रकाश के सामने चन्द्रमा का प्रकाश फीफा पड जाता है – वैसे तुलना करें – तो सूरदास जी तुलसीदासजी की अपेक्षा वरिष्ठ कवि सिद्ध होते हैं।

जीवन का मूल तत्व सूर की वाणी में मिलता है। तुलसी ने जीवन–दर्शन को एक

---

1. ''सूर–साहित्य–नव मूल्यांकन'' – डॉ. चन्द्रभान रावत, पृं.सं. 49
2. –वही–

अनूठी शैली प्रदान की। कबीर ने भी इसी मार्ग का अनुसरण कर काव्य किया, तत्व भी कहा, पर कुछ सीमित रूप में।

एक उक्ति ऐसी भी है, जिसमें तुलसी का नामोल्लेख नहीं है। सूर की कला के मर्म का उद्‌घाटन ही उस उक्ति में लक्षित है। उत्तम पदरचना, काव्य की सूक्ष्मता और अर्थगांभीर्य, सभी का सामंजस्य सूर की साधना में उक्तिकार ने देखा है।

"उत्तम पद कवि गंग के कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गंभीर को, सूर तीन गुन धीर।"

सूर साहित्य की मूल–संरचना को स्पष्ट करने का प्रयत्न कोई अधिक प्रबुद्ध उक्तिकार ही कर सकता था।

सूर और तुलसी से संबंधित वार्तालाप इस प्रकार है : "एक दिन कुछ भक्त लोग सूर के पास गये। उन्होंने सूरदासजी से कहा कि महाराज, हम सब एक विवाद कर रहे हैं कि सूरदास जी बड़े हैं या तुलसीदास जी। क्या आप इस संबंध में हमारे भ्रम का निवारण करेंगे? सूरदासजी ने हँसकर उत्तर दिया : कविता तो मेरी ऊँचे दर्जे की है। तुलसीदासजी ने काव्य नहीं 'मंत्र' लिखे हैं।"[1] इस लोकप्रचलित कल्पित संवाद का तात्पर्य केवल यही प्रतीत होता है कि 'सूरदास' के काव्य की श्रेष्ठता लोक में स्वीकृत थी और तुलसी का शास्त्र–ज्ञान और दर्शन अधिक गंभीर माना जाता था।

इन समीक्षात्मक लोकोक्तियों से केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'सूर की वाणी जनमानस में गूँजती रही। फिर भी सामान्य जनता में तुलसी के समान उनकी लोकप्रियता नहीं है। इसका कारण यह है कि तुलसी की अपेक्षा काव्य की सूक्ष्म ध्वनियों का प्रयोग सूर ने किया है। तुलसी के ध्यान में सदैव लोक रहता है। अतः काव्यगत भंगिमाएँ तुलसी साहित्य में इतनी नहीं आ पाती कि अर्थबोध दुरूह हो जाये।

---

1. "सूर–साहित्य–नव मूल्यांकन" – डॉ. चन्द्रभान रावत, पृं.सं. 492

लोकोक्तियों में सूर के काव्य की सूक्ष्मताओं की ही स्वीकृति विशेष है; अन्य दृष्टियाँ इनमें अधिक मुखरित नहीं है।

सूर–पूर्व निर्गुणियां भक्तों ने दानवतावादी स्वर उठाया था। मानवतावाद के विरोधी तत्व, जाति और कुलगत अभिजात्य का दर्प माने जाते हैं। इसके आधार पर जब मनुष्य का मूल्यांकन किया जाता है, अथवा इनके आधार पर व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा होने लगती है, तो मानवता तिरस्कृत हो उठती हैं। मानव का मूल्यांकन मानव के रूप में ही होना चाहिए, अन्यथा मानवता विक्षुब्ध होकर क्रान्ति के स्वरों के जन्म देगी। 'संतों' ने मानवेतर मूल्यों के आधार पर मानव के मूल्यांकन को स्वीकार नहीं किया। उनकी निषेधात्मक वाणी उग्र हो गई। यदि कोई भी कसौटी मानव की हो सकती है, तो 'भक्ति' – हरि को भजै सो हरि का होई।

सगुण भक्त कवियों ने शबरी, व्याध, गणिका, विदुर आदि के उदाहरण देकर भक्ति के मूल्य को सर्वोपरि माना जिसके आधार पर मानव का यथार्थ मूल्यांकन हो सकता था। पर इनके स्वर में निषेधात्मक क्रान्ति इतनी प्रबल नहीं थी। हो सकता है, निर्गुण संत जातीय दृष्टि से निम्नस्तरीय होने के कारण क्रान्ति को दहका सके हों।

५.५. सूर के काव्य में मानववादी तत्व :

'सूर' में मानवतावादी स्वर मिलता अवश्य है, जो निर्गुणियों के स्वर से कुछ कम प्रखर और तुलसी की अपेक्षा कुछ अधिक मुखर है।

1. "राम भक्तवत्सल निज बानौ।
   जाति, गीत, कुल नाम गनत नहिं, रंक होय कै रामौ।।
2. काहू के कुल तन न बिचारत।
   कौन जाति और पाँति विदुर की, ताही कैं पग धारत।
   ऐसे जनम करम के ओछे, ओछेन हूँ ब्यौहारत।

3. 'जन' की और कौन पति राखै।

जाति, पाँति, कुलकानि न मानत, बेद–पुरानन साखै।''[1]

इस प्रकार 'सूर' की ईश्वर–कल्पना जनवादी हो जाती है। परंपरागत ब्रह्म–कल्पना के प्रति यह एक विद्रोही स्वर ही है। पर इसमें 'विधि' के तत्व ही प्रमुख है, 'निषेध' के कम। 'स्याम गरीबनि हूँ के गाहक' तथा 'नाथ अनाथक ही के संगी' जैसे उक्तियों में मानव–प्रेम ही छलक पड़ता है। इनमें आशा और आस्था की किरणों का विलास है। इसमें पीड़ित की हिमायत है, चाहे क्रान्ति के आरोपित स्वर न हों। इस प्रकार की भक्तवत्सलता तो अन्य कवियों में भी मिलती है, पर सूर ने कृष्ण को सख्य भाव के धरातल पर उतार दिया।

५.५.१. सख्य भाव भक्ति :

'सख्यभाव' के हिन्दी काव्य की सूर पूर्व स्थिति नहीं मिलती। वैसे सख्यभाव 'सखी' और 'सखा' दोनों के ही आश्रय से निष्पन्न और परिपक्व हो सकता है, पर 'सखी' के आश्रय से निष्पन्न सख्यभाव प्रायः सभी कवियों के काव्य में माधुर्य में संक्रमित हो गया है। केवल सूर ही 'सखी' के आश्रय से सख्य और माधुर्य का साथ–साथ परिपाक कर सके। 'सख्य' भाव का तात्पर्य है, भगवान को शुद्ध मानवीय धरातल पर उतार लानाः भगवान और मनुष्य के बीच संबंध का समान धरातल प्रस्तुत कर देना। 'सूर' का प्रमुख वैशिष्ट्य यही है कि वे 'सख्य' भाव पर प्रथम और इतना उत्कृष्ट काव्य लिख सके। श्रीदामा आदि सखाओं के आश्रय से शुद्ध सख्य का परिपाक हुआ और गोपियों के आश्रय से सख्य स्वतंत्र भी परिपक्व होता रहा और माधुर्य को स्वाभाविकता भी प्रदान करता रहा।

---

1. ''सूर–साहित्य–नव मूल्यांकन'' – डॉ. चन्द्रभान रावत, पृं.सं. 494

५.५.२. साम्य का विचार :

मानव और भगवान के बीच साम्य की स्थापना एक भावात्मक क्रान्ति ही कही जायेगी। 'साम्य' जीवन का सर्वोच्च समाजवादी मूल्य है। वैषम्य के कारण वर्णगत विभाजन होता है। यदि आस्तिकता वैषम्य को बल देने लगती है, तो साम्य की ओर प्रगतिशील शक्तियाँ उसे समाप्त करके मानववाद की स्थापना करती हैं। समाजवादी युग में आस्तिकता को यह संकट बना रहता है। सूर ने आस्तिकता को सख्य भाव से मंडित करके उसको साम्यवादी मूल्यों का विरोधी नहीं रहने दिया। 'सूर' की विनय संबंधी कल्पना भी भगवान को मानव के समान धरातल पर रख देती है। कवि की निम्न उक्ति में बराबरी की भावना कितनी मुखर है :

"आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हौं ही कै तुम ही माधव अपुन भरोसे लरिहौं।

दास्यासक्ति वाले किसी भक्त ने भगवान को लड़ने के लिए इस प्रकार की चुनौती नहीं दी होगी। वह आज अपने भरोसे भगवान से लड़ना चाहता है। इस उक्ति के मन्तव्य को डॉ. सत्येन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है : "इन पंक्तियों को पढ़ते ही पाठक में सबसे पहले भगवान की समानता करने का ही नहीं, उनका सामना करने का भाव उदय हो, उठता है।"[1] भगवान और मानव के बीच का दास्यपरक वैषम्य अन्ततः ध र्माश्रयी उच्चवर्गों को समाज में जन्म देता है और समाज में वर्ग–संघर्ष प्रखर और अवश्यभावी हो जाता है। 'सख्य' की स्थापना करने वाले विचारकों के प्रति ये वर्ग असहिष्णु हो जाते हैं : उनको अपने निहित स्वार्थों के संरक्षण के लिए इन बराबरी की बात कहने वाले मनीषियों का दमन करना पड़ता है। 'सूर' ने व्यक्त अव्यक्त रूप से 'सख्य' के आधार पर साम्य मूलक आस्तिकता की स्थापना की।

---

1. 'सूर की झाँकी' – डॉ. सत्येन्द्र और शिवलाल अग्रवाल, पृ.सं.

कृष्ण कथा का नायक एक अत्यन्त साधारण जन–स्तर से अपने जीवन का आरंभ करता है। गोप–ग्वालों की निम्न जाति में उनका चरित्र विकसित होता है। जन्मतः राजवंश से संबंधित यह नायक अपने अभिजात्य से अस्पृष्ट रहता हैं। अलौकिकता की भी ऊँची–ऊँची लहरें उठकर मानवीय भावनाओं की तुंग तरंगों से होड़ लेती हुई मिलती है। संभवतः किसी भी अवतार में इतनी छोटी अवस्था में अलौकिकता का इतना घटाटोप नहीं हो गया था। पर 'सूर' ने 'सख्य' और 'वात्सल्य' की बड़े कौशल से रक्षा की। हनुमान और सुरसा की होड़ के समान दोनों की होड़ चली, पर सूर के द्वारा भक्ति मानव–मन की शक्तियों की ही विजय रही। न यशोदा ही अलौकिकता से प्रभावित हुई और न सखा या सखी ही। जब कृष्ण ने एकाध बार अपने आप अपनी अलौकिकता का बखान किया तो भी भावों की सबद तरंगों में, तिनके के समान उनके कथन बह गए। इस प्रकार कृष्ण कथा का पूर्व संस्कार ही जनवादी था, सूर ने उस कथा के साथ अपना मानववादी प्रयोजन संबद्ध कर दिया।

कृष्ण को सुबल श्रीदामा आदि खूब चिढ़ाते हैं : उनसे अपनी गायें धिरवाते हैं : उनकी 'छाकों' को लूट कर खा जाते हैं। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा इस भाव की स्वच्छता को इस प्रकार व्यक्त करते है : ''कृष्ण के साथ स्वतंत्रता पूर्वक छाक खाना, गाना, बजाना, गायें घेरना, आदि क्रीड़ाओं में वे कृष्ण को अपने से उच्च जानते हुए भी, अपने को उनसे हीन नहीं समझ पाते। बन में आस्मिक संकटों के आने पर वे किंचित् भयभीत होते हुए भी निर्भयता का अनुभव करते हैं तथा कृष्ण के अलौकिक कृत्यों को देखकर विस्मितचकित होते हुए भी तथा कभी–कभी वह संदेह करते हुए भी कि यह कोई अवतारी पुरुष है, वे कभी संकोच अथवा आत्महीनता का परिचय नहीं देते।''[1] इस प्रकार कृष्ण का आधिभौतिक माहात्म्य एक–एक क्षण में 'सख्य' से हार मानता है।

---

1. सूरदास – डॉ. ब्रिजेश्वर वर्मा–सूर साहित्य–नव मूल्यांकन, डॉ. चन्द्रभान रावत, पृ.सं. 497

गोकुल और बृंदावन की साम्य भूमि को छोड़कर कृष्ण मथुरा चले जाते है। वहाँ जाकर वे राजा बन जाते है। गोपियों की साम्य समन्वित जनवादी दृष्टि क्षुब्ध हो जाती है। अब कृष्ण सामंतवादी वर्ग से संबद्ध हो गये। मथुरा से लौटकर ग्वालों ने कृष्ण का यह चित्र प्रस्तुत किया –

"ग्वारिन कही ऐसीजाई।
भये हरि मधुपुरी राजा, बड़े बंस कहाई।।
सूत मागध बदत बिरदान, बरनि बसुद्यौ सात।
रांजभूषन अंग भ्राजत, अहरि कहत लजात।।[1]

कृष्ण के मन में अब अभिजात्य का गर्व इतना समा गया कि अपने को अहीर कहते हुए भी उन्हें लज्जा होती हैं। गोपियों का व्यंग्य बरस पड़ता है। वे कहती हैं, अब राजा हो गये, यहाँ तो वे गोपाल थे। हमें उनके राजा रूप से कोई संबंध नहीं। उद्धव से भी कृष्ण के राजा रूप को लेकर व्यंग्य किये गये है। गोपियाँ उद्धव से कहती है कि उन्हें कृष्ण का जनवादी रूप ही चाहिए।

वियोग होने पर वियोगी की जो दशा होती है उसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को हो नहीं सकता भुक्तभोगी ही जानता है, प्रेमी अपने प्रिय के ध्यान में निमन होकर खाना–पीना भी भूल जाता है। लाख प्रयत्न कीजिये पर प्रेमी को चैन नहीं मिलता उसे कुछ नहीं सुहाता। उसकी आँखें केवल प्रिय के दर्शन की भूखी रहती हैं, जैसे –

"अँखिया हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहे रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी।।
अवधि गनत, इकटक मग जोवत तब एती नहिं झूँखी।
अब इन जोग संदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी।

1. 'सूर–साहित्य की भूमिका' – रामरतन भटनागर वाचस्पति त्रिपाठी।
2. 'भ्रमरगीत सार'– – 16 – राग धनाश्री।

बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी।
'सूर' सिकत हठि नाव चलाओ ये सरिता है सूखी।"[1]

इस प्रकार महाराज कृष्ण के प्रति अनेक व्यंग्य बाण छोड़े जाते हैं। न गोपियों को 'महाराज कृष्ण से कोई समझौता होता है, और न सूर की भाव पद्धति का ही। जिस सूर की अजस्त्र कल्पना ब्रज कृष्ण का वर्णन करते हुए, कभी थकती नहीं थी, वही कल्पना इस साम्य भूमि से बहिर्गत कृष्ण का थोड़ा भी साथ नहीं दे पाती। संक्षेप में यही कहना है कि सूर का संदेश साम्य और सहज का संदेश है। कृष्ण कथा के साथ उन्होंने इसी प्रयोजन को संलग्न किया है।

५.५.३. सहज का विचार :

'सहज' एक प्राकृतिक मार्ग है। इस सहज मार्ग में विधि निषेध, नियम–संयम, और लोक–वेद के मान पर जितनी बाधाएँ आती हैं, उनकी उपेक्षा में ही गोपियों का परम पुरुषार्थ है। कृष्ण को जब वर्गीय दर्शन में बाँधने का प्रयत्न उद्धव करता है, ज्ञान और योग की आरोपित धारणाओं और क्रियाओं से कृष्ण के सहज मानवीय रूप को वह ढँक देना चाहता है; तब गोपियाँ झुँझलाकर कहती हैं – 'काहे कों रोकत मारग सूधौ? गोपियाँ तिरस्कार भरी वाणी में पूछती हैं –

"निर्गुन कौन देश के बासी?
मधुकर! हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी।
कैसो वरन भेस हैं कैसो केहि रस में अभिलासी।।
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे!
कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो 'सूर'
सबै मति नासी।।"[2]

---

1. 'सूर साहित्य की भूमिका' – रामरतन भटनागर, वाचस्पति त्रिपाठी।
   'भ्रमरगीत सार', सूरदास –– राग धनाश्री 16।
2. 'भ्रमर गीत' – सूरदास, राग सारंग – 25

यह सुनकर उद्धव अभिभूत हो जाता है। निर्गुण और निराकार वाला दर्शन अंततः इस नाम रूपात्मक जगत को मिथ्या और असार घोषित करता है। मनुष्य का अस्तित्व अपना कोई रूप ही ग्रहण नहीं कर पाता।

अद्वैत या निर्गुण पर आधारित दर्शन सामान्य जन–जीवन की पहुँच से ऊपर हो जाता है। कुछ ही विद्वान या साधक उस तत्व से अपने को विज्ञ बतलाते हैं। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में एक उच्चतर वर्ग जन्म लेता है। अवसर पड़ने पर यह 'पुरोहित' वर्ग सामान्य जन का शोषण करने लगता है। दर्शन सांप्रदायिक या वर्गीय बनने पर 'साम्य' और 'सहज' की शक्तियों का निरादर करता है। सूर की भक्ति गोपी और ग्वालों के द्वारा निरूपित है। किसी संत महन्त की भक्ति नहीं। निर्गुण दर्शन को शुद्ध मानवीय संदर्भ में पराजित करके 'सूर' ने वास्तव में मानव को विजय की भूमिका प्रस्तुत की है।

सहज मार्ग का दूसरा अवरोधक तत्व बाह्याचार है। बाह्याचार या आडंबर रूढ होकर जीवन की सहजता को कुचल डालते हैं। वे निर्जीव होकर भी जीवन पर भार बन रहते हैं। तीर्थ, व्रत, संयम आदि बाह्याचारों में आते है। 'सूर' ने इनके प्रति भी कोई आस्था नहीं दिखलाई –

"जो सुख होत गोपालहिं गाए।
सो नहिं होत जप–तप के कीन्हें, कोटिक तीरथ न्हाए।"[1]

इस प्रकार सूर–साहित्य में संतकाव्य की जनवादी धारा, अधिक भावापन्न होकर अभिव्यक्त हुई है।

साम्य–भूमि–ब्रजभूमि की जीवंत शक्तियाँ – गोपियाँ योग को तिरस्कार कर देती है। कम–से–कम ब्रज की भूमि पर तो यह सब कुछ नहीं सकेगा। कंस के

---

1. "सूर साहित्य – नव मूल्यांकन" डॉ. चन्द्रभान रावत, पृ.सं. 498

साम्राज्यवाद के सामने ग्वाला की ब्रजभूमि झुकी नहीं। अनेक यातनाएँ सहीं, अनेक कर दिए, पर ब्रज की सघन बनस्थली में निवसित इन जातियों का जनवादी संघटन कभी निरस्त नहीं हुआ। कृष्ण ने इसी जाति की क्रान्तिकारिणी पद्धति को ग्रहण करके मथुरा के साम्राज्यवाद पर प्रहार किया था। इस जाति का अपना एक सहज दर्शन था, जिसमें वैदिक मूल्यों की अस्वीकृति और लोक–जीवन की सहजता मान्य है। सूर–साहित्य इसी जनवादी जीवन–दर्शन का पोषक है।

"जगत को मिथ्या मानने वाली धारा सूर–साहित्य में दम तोड़ रही है। जीवन और जगत के प्रति सहज आस्था इसमें प्रमुदित है। सूर–साहित्य जीवन और जगत में जन–मानस की आस्था को सुदृढ़ करता है।"[1] जीवन के प्रति जन की भावनाएँ निखरती हैं। राजवंश से संबद्ध और शास्त्रीय पद्धति से ब्रह्म के रूप में निरूपित कृष्ण मथुरा में रह कर भी ब्रज के 'सहज' जीवन के प्रति अपने आकर्षण का अनेक बार कथन करते हैं –

"यह मथुरा कंचन की नगरी, मुनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं।"[2]

मुनि–मानस का प्रतिनिधित्व अक्रूर करता है, जो कृष्ण की ब्रह्मवादी व्याख्या करता है – 'प्रभु तुव माया अगम, अगोचर, लहि न सकत कोउ पार।' इस प्रकार बाह्य रूप से भी और ज्ञानवादी रूप से भी कृष्ण साम्राज्यवादी या पूँजीवादी व्यवस्था में जकड़ गये थे। आजीवन वे इसी व्यवस्था के साथ संघर्ष करते रहे। मथुरा में 'सख्य' भाव उद्धव में मिला था। पर उसका सख्य भाव पूँजीवादी दर्शन के परिवेश से उन्मुक्त नहीं हो सकता था। अतः उसका नव–संस्कार उसे ब्रज में भेज कर कराया गया। 'सख्य' भक्ति का एक और प्रतिनिधि 'सुदामा' है, जो द्वारका के कृष्ण से मिलता है। सुदामा

1. "सूर साहित्य – नव मूल्यांकन" डॉ. चन्दभान रावत, पृ.सं. 499
2. 'भ्रमरगीत सार'– सूरदास–राग धनाश्री, 64

का सख्य भी उन्मुक्त नहीं है : वह हीनता और दैन्य से जड़ीभूत है। कृष्ण ने अपने व्यवहार से इसको भी साम्यवादी रूप में ढालने का प्रयत्न किया। कृष्ण ने उसे अपना जैसा बना दिया।

महाभारत के युद्ध क्षेत्र में एक और सखा मिलता है – 'अर्जुन'। वह अन्तर्द्वन्द्व में पड़ा है। वह आरोपित दर्शन और विचारधारा से पीड़ित है। 'सहज' कर्म की छाया उसे कृष्ण ने दी और वह यथार्थ सखा बन गया। उसे गोपियों की सहजता मिली, और वह जीवन के मर्म को समझ गया और शुद्ध सखा बन गया। इस प्रकार 'साम्य' के प्रतीक 'सख्य' भाव की व्यापकता सूर–साहित्य में आघांत है। सख्य केवल साम्य का नहीं, सहज का भी है। '' 'साहिब' भाव के स्थान पर 'सखा' भाव प्रतिष्ठा एक प्रकार से 'साम्य' और सहज की प्रतिष्ठा है।''[1]

५.५.४. लीला - सहज का प्रतीक :

'लीला' शब्द स्वयं सहज का प्रतीक है। यदि गीता की भाषा में कहें तो 'लीला' निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म में और सहज कर्म में कोई अंतर नहीं। कर्म जब फलाश्रित सुख–दुख के द्वन्द से ऊपर उठ जाता है, तब निष्काम कहा जाता है। इसी प्रकार लीला भी द्वन्द रहित होकर कर्म के आनंदमूलक अनुष्ठान का उपक्रम है।

लोकमंगलकारी लीलाओं की योजना में उद्देश्य इतना प्रकट हो जाता है, कि लीला का लीला के रूप में आस्वादन होना संभव नहीं रहता। उसकी फल–निरपेक्षता बाधित हो जाती है। रामकथा की समस्त लीलाएँ लोक मंगल के उद्देश्य में अपनी सहजता खो बैठती हैं। कृष्ण कथा में लोकमंगलकारी लीलाओं का नितांत अभाव नहीं है : लोक जीवन की विरोधी शक्तियों का नाश कृष्ण बाल्यकाल से ही करने लगते हैं। इस विनाश लीला पर देवता फूल भी बरसाते हुए मिलते है और देवताओं की प्रशस्तिमूलक

---

1. ''सूर साहित्य – नव मूल्यांकन'' डॉ. चन्द्रभान रावत, पृ.सं. 500

स्तुतियाँ भी सुनाई पड़ती हैं। पर राम की विनाशात्मक लीलाओं और कृष्ण की इस प्रकार की लीलाओं में एक अंतर प्रतीत होता है। राम की लीला में उद्देश्य आरंभ से ही स्पष्ट हो जाता हैः उद्देश्य एक योजना–बद्ध कार्य व्यापार का रूप ग्रहण करता हैं। इस कार्य–व्यापार या योजना की सफलता उद्देश्य की महानता और उदात्तता के कारण अवश्यभावी हो जाती है। इस प्रकार लीला का विकास एक सफल योजना में हो जाता है। 'योजना' में मानवीय बौद्धिकता भी प्रकट होती है और अलौकिकता योजना के द्वारा दुर्जित स्थलों पर प्रकट होकर योगना को कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध करती है। इस विधान में अलोकिकता मानवता से और मानवता अलौकिकता से संबंद्ध होकर दोनों की ही सहजता को प्रभावित करती है। सूर–साहित्य में दोनों ही अपने सहज रूप में है। "अलौकिक शक्ति की सहजता पूतना, तृणावर्त आदि के वध में प्रकट होती है : मानवीय धरातल पर इस प्रकार की लीला संभव नहीं है। अलौकिकता अपने शुद्ध रूप में वहाँ रही। मानवीय सहजता इसमें है कि यशोदा सखा और गोपियों की भाव–लीलाओं पर इन शुद्ध आलौकिक सहज लीलाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार दोनों की सहजता एक प्रकार से अक्षुण्ण बनी रही। अन्त में आलौकिक लीलाओं की न्यूनता होती गई, और मानवीय भाव लीलाओं की सहजता का विलास–विकास तीव्र होता गया।"[1]

कृष्ण की लीलाओं में मानव–मन के भावों की सहज आकृतियाँ अधिक देखने को मिल जाती हैं। इन लीलाओं में भी अलौकिक प्रयोजन का सन्निवेश कुछ कवियों ने किया। पर सूर ने सदैव उनकी सहजता को सद्य सरल बनाए रखा। इस सहज की सिद्धि के लिए सूर ने सभी भावों के निरूपण में एक सूत्र को अविच्छिन्न रखा : उपालंभ, व्यंग्य और विनोद का सूत्र सभी स्थलों पर सहजता का पोषण और उन्नयन करता हुआ मिलता है। सहजता को बाधित करनेवाले तत्व व्यंग्यों से प्रताड़ित होकर विलीन हो जाते हैं। 'उपालंभ' अलौकिकता को आवृत कर देते हैं। 'विनोद' मनुष्य की एक सहज

---

1. "सूर साहित्य – नव मूल्यांकन" डॉ. चन्द्रभान रावत, पृ.सं. 501

वृत्ति है ही। इन तत्वों से अनुप्राणित होकर मानवीय भावों की सहजता अपना लीला–विस्तार करती है।

५.६. तुलसी की तुलना में सूर का वैशिष्ट्य :

मानवीय भावों की सहजता को प्रकट करने वाली लीलाओं का सूर–साहित्य में आधिक्य है। जहाँ तुलसी में लोक–मंगलकारी सोद्देश्य लीलाओं का अत्यधिक विस्तार हुआ है, वहाँ सूर में वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों की लीलाओं का आधिक्य है। इनके बीच–बीच में आने वाली अलौकिक लीलाएँ मानवोचित भावनाओं को 'सुरक्षा' की प्रवृत्ति से उतेजित ही करती है : उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं बन पाता। यदि इनका स्वतंत्र अस्तित्व बनता भी हैं तो स्वर्गलोक या आकाश में ही, मानवीय भूमि पर नहीं। तुलसी–साहित्य में मानवीय भावलीलाओं की विस्तृति अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही ग्रहण नहीं कर पाती। सूर के भाव अधिक मानववादी और जनवादी बने रहते हैं। सूर का मानवीय व्यक्तित्व आरोपित भक्त के व्यक्तित्व से एक क्षण भी अभिभूत नहीं हो जाता। इसीलिए मानवीय भाव कहीं घुटन का अनुभव नहीं करते।

निष्कर्ष :

संक्षेप में सूर का यही मानववाद है। यह मानववाद लोक जीवन के तत्वों और जनवाणी के माध्यम से प्रकट हुआ है। यहाँ शास्त्रीय उपकरणों का प्रभाव तो नहीं है, पर लोकजीवन के सहज उपकरणों के साथ उनकी प्रगाढ़ मैत्री है। स्पष्ट है कि 'सहज' और 'साम्य' सूर के मानववाद के प्रमुख स्तंभ है।

उपसंहार

उपसंहार

भक्ति की धारा का वास्तविक विकास तो रामानंद और वल्लभाचार्य के प्रयत्नों द्वारा ही हुआ था और उसमें भी सगुण भक्ति धारा, निर्गुण भक्ति धारा की तुलना में अधिक प्रभावशाली और व्यापक रही।

सगुण विचारधारा में ब्रह्म के अप्राकृत गुणों की स्वीकृति है। उस ईश्वर के गुण अनंत हैं, असंख्य हैं, लौकिक वाणी उन अलौकिक गुणों को अभिव्यक्ति करने में अक्षम हैं। ईश्वर के ऐश्वर्य ओर उसकी लीला में सगुणोपासक भक्त की पूरी आस्था है। वह उसके सक्षम नत मस्तक हो जाता है। वस्तुतः निर्गुण रूप की उपासना बहुत कठिन है। इसलिए भक्त को सगुण रूप का आश्रय लेना पड़ता है। सूरदास कहते हैं – "रूप रेखा गुन जाति जुगति बिन निरालंब मन वकृत धावै।"

हिन्दी साहित्य में कृष्णभक्ति की अजस्त्रधारा को प्रवाहित करनेवाले भक्त कवियों में सूरदास का स्थान मूर्धन्य है।

वैयक्तिक जीवन में सूर पूर्ण रूप से विरक्त थे। उनकी जीवन भगवान की उपासना के लिए समर्पित था। कृष्ण के जीवन के विविध संदर्भों से सम्बद्ध गीतों की रचना में ही उनका समय व्यतीत हुआ। सामाजिक उथल–पुथलों से वे कोसों दूर थे। अन्धे होने के कारण जीवन की प्रत्यक्ष विकृतियों से उनका शायद परिचय ही न था। वे एकदम आत्मराम थे।

सूरकाव्य का मुख्य विषय कृष्ण–भक्ति है। सूर की भक्ति पद्धति का मेरुदण्ड पुष्टिमार्गीय भक्ति है। साधना और व्यवहार–क्षेत्र में शुद्धाद्वैत दर्शन के साथ जिस भक्ति को स्थान दिया गया, उसका आधार श्री वल्लभाचार्य ने 'पुष्टिमार्ग' को बनाया। पुष्टिमार्गीय भक्ति की सर्वप्रमुख विशेषता है हरि लीला का विपुल वर्णन।

सगुण भक्ति में भक्त भगवान की जिस रूप में आराधना करता है, भगवान अपनी भक्त–वत्सलता एवं अपरम्पार कृपा के कारण उसी रूप में प्रकट होकर भक्त की इच्छा की पूर्ति करते हैं।

सच्चे कवि में दार्शनिक और कवि का संतुलित सामंजस्य दृष्टिगत होता है। दार्शनिकता से मतलब सांप्रदायिक अवस्था नहीं; अपितु बौद्धिक प्रतिपादन हैं। सूर ने अपने गीति–काव्य में वैयक्तिक एवं सांस्कृतिक जीवन के योग में भगवत् प्रेम का पूर्ण समर्थन किया है। यही उनकी उच्च दार्शनिकता का परिचायक हैं।

'सूरसागर' उत्तम काव्य ही नहीं हैं, अपितु श्रेष्ठ आध्यात्मिक ग्रंथ भी है। दर्शन सूर के 'सूरसागर' का महत्वपूर्ण भाव है जिसने सूर को महाकवि तथा दार्शनिक कवि भी सिद्ध किया है। अंग्रेजी कवि 'ब्राऊनिंग' के शब्दों में "When passion and philosophy meet in a single individual we have a great poet." यह बात सूरदास जैसे महाकवि पर पूर्णतः लागू होती है। सूरदास के दार्शनिक सिद्धांत का उद्देश्य संक्षेप में यह है कि प्रेम और मानव मात्र की सेवा ही सबसे बड़ा मानवीय सत्य है।

महाकवि सूरदासजी प्रभु कृष्ण की कथनी व करनी में अंतर नहीं मानते थे। इसलिए कहा गया है 'कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्'। श्री कृष्ण के चरणारविंदों पर जो समर्पित होते हैं, उनके चरणों को जो विश्वास से पकड़ लेते हैं, वे सब उन्नति और उद्धार पाते हैं। कृष्ण की सेवापरायणता का उज्जवल रूप गोकुल में मिला था। गाय–बैलों को चरते चराते–धूल धूसरित शरीर के साथ थके–मांदे क्या श्रीकृष्ण ने अपना बचपन नहीं बिताया? शरीरश्रम को वे कितना बड़ा मानते थे। और सामान्य गोप–जन से वे कितना स्नेह रखते थे और उनकी कितनी सेवा आपने की है।

पेरियालवार कहते हैं – अंधेरे में कृष्ण पैदा हुए परंतु गरीबों के अज्ञान व अंधकार को उन्होंने दूर किया। सुब्रह्मण्य भारती ने भी कहा है – 'कृष्ण दीन–बंधु हैं।

निर्धनों के सहायक है।'' कृष्ण की एक और महिमा है। श्री राम सब कुछ दूसरों की सहायता से करते थे। परंतु कृष्ण स्वतः सहायक रहे। स्वावलंबन व स्वप्रयत्न के वे पुंज रहे। सूरदास ने ऐसे कृष्णचरित द्वारा अपने मानववादी विचारों का परिचय दिया है, जो इस शोध ग्रंथ का केन्द्रीय तत्व है। पूरा पंचम अध्याय इसी तत्व पर केन्द्रित है।

सूर के काव्यों में प्रकृति संबंधी उपमाएं अधिक हैं। सूर ने काव्य शास्त्र का अधिक सहारा नहीं लिया। उन्होंने अपने चारों ओर की ब्रज–प्रकृति को देखा और उसका सूक्ष्म अध्ययन किया। उनके काव्य में ब्रज के पर्वों–उत्सवों के साथ ब्रज–लोक–संस्कृति प्रत्यक्ष मूर्तिमान हो उठी हैं। सूरदास लोक संस्कृति के संरक्षक है और उनके आराध्य श्रीकृष्ण का उसी संस्कृति के बीच पालन–पोषण हुआ।

सूर अपने त्रिआयामी व्यक्तित्व – भक्त, कवि और मानववादी – के तीनों ही रूपों में, भारतवर्ष की ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व की एक महान् विभूति है। ऐसी विभूतियों से विधाता की सृष्टि क्वचित् क्वचित् ही मण्डित होती है। सूर के सार्वभौम व्यक्तित्व की यह बड़ी विशेषता है कि उसके ये तीनों पक्ष पृथक रूप से भी अत्यंत स्पष्ट और महनीय हैं। विश्व का कोई भी साधक उनके भक्त रूप से प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। कोई भी सहृदय उनके काव्य के अनुशीलन से रसदशा तक पहुँच सकता है और कोई भी मानवता–प्रेमी उनके मानववादी विचारों से आह्लादित हो सकता है।

'सहज' और 'साम्य' सूर के मानववाद के प्रमुख स्तंभ है। सूर की भक्ति भले ही अन्तर्मुखी हो फिर भी लोक–कल्याण की उदात्त भावना उनके साहित्य का प्राण है।

संस्कृत साहित्य में जो स्थान आदिकवि वाल्मीकि का है, ब्रजभाषा साहित्य में वही स्थान सूरदास को दिया जा सकता है। ब्रजभाषा साहित्य के आरंभिक काल में ही सूरदास ने अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा जैसा सर्वांगपूर्ण काव्य उपस्थित किया, वैसा कई शताब्दियों के साहित्यिक विकास के उपरांत भी कोई कवि नहीं कर सका। यह बात सूर–काव्य की विशेषता को चरम सीमा पर पहुँचा देनेवाली है।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. 'सूर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' – श्री शरण, आधुनिक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002।
2. 'सूर की काव्य–कला' – मनमोहन गौतम, एस.चन्द एन्ड सन्स कंपनी (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली।
3. 'सूर और उनका साहित्य' – डॉ. हरबंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।
4. 'सूर सागर और कृष्णगाथा – एक अध्ययन' – डॉ. चेरियान जार्ज, जवहर पुस्तकालय, मथुरा, प्रथम संस्करण, 1993।
5. 'सूर की भाव–साधना' ' डॉ. नगेन्द्र सिंह फौजदार – प्रथम संस्करण, 1888।
6. 'सूर निर्णय' – द्वारकादास परीख, प्रभुदयाल मीतल, साहित्य संस्थान, मथुरा, तृतीय संस्करण।
7. 'सूर साहित्य' – हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, 1973।
8. 'सूर साहित्य' – एक संक्षिप्त परिचय – वेद प्रकाश शास्त्री, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982।
9. 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' – बाबु गुलाबराय, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, सैंतालीसवाँ संस्करण, 2001।
10. 'हिन्दी साहित्य में अष्टछापी और राधा वल्लभीय काव्य' – डॉ. रामचरण लाल शर्मा।
11. 'हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास' – राजनाथ शर्मा, विनोद पुस्तकालय, मथुरा, 2000।
12. 'साहित्यिक निबंध' – डॉ. सुषमारानी गुप्ता, हिन्दी पुस्तक भवन, दिल्ली, 1975।

13. 'मध्ययुगीन कृष्णभक्ति परंपरा और लोक–संस्कृति, डॉ. रामेश्वर दयाल, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1975.

14. 'ब्रज का इतिहास' – श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, ब्रज–साहित्य मण्डल प्रकाशन, मथुरा।

15. 'भक्ति साहित्य में वात्सल्य भावना' – डॉ. जी. आर. कुल्कर्णी, दक्षिण भारत हिन्दी परिषद, कोल्हापुर, प्रथम संस्करण 2001।

पत्रिका

1. लोक–संस्कृति अंक – सम्मेलन–पत्रिका, प्रयाग, अंक वर्ष 2000 ।

2. दक्षिण भारत – त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका (जुलाई–सितंबर 2001), दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा प्रकाशन, संपादक–एम.आर. राममूर्ति।

3. 'सूर सौरभ' – (अप्रैल–मई–जून 1999) – डॉ. सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, डॉ. एन. सुन्दरम्, सूर स्मारक मण्डल, चेन्नै प्रकाशन।

4. 'सूर सौरभ' – (अक्तूबर–नवम्बर–दिसंबर 1999) – डॉ. सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, डॉ. एन. सुन्दरम्, डॉ. एम. गोविन्दराजन, ईश्वर, करुण झा 'करुन', सूर स्मारक मण्डल, चेन्नै प्रकाशन।

5. 'सूर सौरभ' – (अप्रैल–मई–जून 2002) – डॉ. सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, डॉ. एन. सुन्दरम्, डॉ. एम. गोविन्दराजन, डॉ. ओय.वी.एस.एस.एन. मूर्ति, सूर स्मारक मण्डल, चेन्नै प्रकाशन।

6. 'सूर सौरभ' – (अप्रैल–मई–जून 2003) – डॉ. सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, डॉ. एन. सुन्दरम्, डॉ. एम. गोविन्दराजन, डॉ. ओय.वी.एस.एस.एन. मूर्ति, सूर स्मारक मण्डल, चेन्नै प्रकाशन।

7. 'सूर सौरभ' – (जुलाई–अगस्त–सितंबर 2003) – डॉ. सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, डॉ. एन. सुन्दरम्, डॉ. एम. गोविन्दराजन, डॉ. ओय.वी.एस.एस.एन. मूर्ति, सूर स्मारक मण्डल, चेन्नै प्रकाशन।

8. 'सूर सौरभ' – (अपैल–मई–जून 2004) – डॉ. सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, डॉ. एन. सुन्दरम्, डॉ. एम. गोविन्दराजन, डॉ. विश्वनाथ शुक्ल, सूर स्मारक मण्डल, चेन्नै प्रकाशन।

9. 'तपोवनम्' – श्री सत्य साई बुक्स एन्ड पब्लिकेशन ट्रस्ट, तमिलनाडु।

कोश

1. The Oxford Hindi - English Dictionary -- R.S. Mc. GReger

2. Merriam - Webster's Collegiate Dictionary

3. The Oxford Paper Back Dictionary compiled by Jeyce M. Hawkins

4. The New Penguin Encyclopedia 2003 - David Crystal, Penguin Books, India.

5. The World Book Dictionary --- Clarence L. Barnhart & Robert K. Barnhart, 1982 (Volume one A - K)

लेख

1. A Study of History - Toynbee quotes Baghy --- Vol. XII

2. Music and Temples - A Ritualistic approach - L. Annapoorna, Sundeep Prakashan, New Delhi, First Edition 2000.